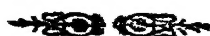
प्रस्तावना ।

सम्वत् १९२४ में जब कि स्वामी महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने कर्णवास में वैदिकधर्म का उपदेश किया था तदनुसार वहां के बड़े बड़े रियासत वाले क्षत्रियों ने महर्षि के उपदेश को सादर ग्रहण कर यज्ञोपवीत कराए और सन्ध्या अग्निहोत्र के मन्त्रों का अध्ययन किया उसी अवसर में मेरा भी उपनयन संस्कार हुआ था। मैं स्वामी जी की सेवा में नित्य गंगातीर पक्के घाट पर जाकर सन्ध्या पढ़ा करता था। एक दिन मध्याह्नोत्तर ४ बजे के समय स्वामी जी के पास सब क्षत्री आदि श्रोता बैठे हुए थे उसी समय ठाकुर गोपालसिंह जी के कारिन्दा लाला केसरीलाल कायस्थ ने प्रश्न किया कि महाराज मैं गीता का पाठ किया करता हूं यह कैसी पुस्तक है। तब स्वामी जी ने उत्तर दिया कि गीता में सम्प्रदायी लोगों ने बहुत श्लोक मिला दिये हैं उसमें ७।९।१०।११।१२ अध्याय तो समग्र प्रक्षिप्त हैं और अन्य अध्यायों में भी किसी में दो किसी में १० किसी में ५ श्लोक अवतारवादादि के प्रक्षिप्त हैं उनको छोड़कर शेष गीता शुद्ध है।



❀ ओ३म् ❀

भूमिका



वास्तव में मनुष्य जन्म के सुधार वा आत्म सुख के लिये गीता का उपदेश साक्षात् अमृत ही है, इसके अनुकूल अपने आचार व विचार सुधारने वाला पुरुष अमर हो जाता है इसी से लोकमें इसका गीता नाम प्रसिद्ध हुआहै। भगवद्गीता नाम इसलिये पड़ा है कि (गै शब्दे) धातु से गीता शब्द बना है भगवान् अर्थात् ऐश्वर्यवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को (शब्द) उपदेश किया है। वेदों उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों को देखकर जो उपदेश श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को किया उसी का आश्रय लेकर जिज्ञासु भक्त लोग आप सुखी होते और अन्यों को उसका उपदेश कर प्रचार करते हैं। परन्तु क्षुद्राशयी लोग अपने मत को फैलाने के लिये उस उत्तम ग्रन्थ में अपने कल्पित मत के श्लोक मिला कर जनता में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। इसी बात को विचार कर मैंने वेद तथा उपनिषदों के अनुकूल श्लोकों को इस रीति से क्रम बद्ध किया है कि पाठकों को आदि से लेकर अन्त तक कहीं भी अवतार वा जीव को ब्रह्म होने की शंका उपस्थित न हो और प्रकरण में भी पूर्वापर विरोध न होनेपावे तथा ज्ञान कर्म, उपासना, योग, और जीव ब्रह्म प्रकृति का ठीक २ निर्भ्रम विवेक हो सके। अनुवाद में जो कुछ त्रुटि रह गई हो उसको सज्जनों के जताने पर दुबारा छपने में दूर कर दी जावेगी।

❀ शमित्योश्म् ❀

हम पाठकों के विचारार्थ लुप्त पिण्डोदक क्रिया पर प्रारम्भ में कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक समझते हैं।

अ० १ श्लोक ४२ में लुप्तपिंडोदक क्रिया पर विचार

१—इस पद्य का मृतक श्राद्ध के पक्षपाती लोग मृत पितरों को पिण्ड दान करने की क्रिया का लोप हो जाना करते हैं परन्तु यह उनका अर्थ असंगत है क्योंकि जो, तिल, चावल सहित जव के आटे के जो पिण्ड मृतकों के लिये दिये जाते हैं उसका प्रचार तो हिन्दू जाति में अच्छी तरह हो रहा है लोप नहीं हुआ है इससे अर्जुन का वाक्य निरर्थक ठहरता है।

२—अतएव उनका किया अर्थ वेद ब्राह्मण श्रौत गृह्यग्रन्थों से विरुद्ध है क्योंकि मृतकों के उद्देश्य से उक्त ग्रन्थों में आटे के पिण्डों का विधान नहीं हैं।

३—वर्णसंकर होने का कारण मनुस्मृति में यह लिखा है—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्या वेदने न च।
स्व कर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः॥

मनुः अ० १० श्लोक २४

चारों वर्णों में व्यभिचार की प्रवृत्ति का होना एक गोत्र में विवाह करने से और अपने २ वर्ण के वेदोक्त कर्मों का त्याग करने से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होते हैं।

४—अर्जुन का कथन यह है कि इस युद्ध के होने से बहुत स्त्रियां विधवा हो जावेंगी वे व्यभिचार करेंगी उन से वर्णसंकर

प्रजा उत्पन्न होंगी उस प्रजा से कुल के वेदोक्त धर्म नष्ट होंगे। धर्म के नष्ट हो जाने से पिण्डोदक क्रिया का लोप होगा, क्रिया का लोप हो जाने से इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के समुदाय में से पितरों का पतन हो जावेगा।

५—वेदोक्त मर्य्यादा में ब्रह्मचर्य्य आश्रम को समाप्त करने के पश्चात् ही लड़का लड़कियों की माता पिता संज्ञा होती है ब्रह्मचर्य के पूर्व नहीं—

वसून्वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पिता महान्।
प्रपिता महां श्चादित्यान् श्रुति रेषा सनातनी॥

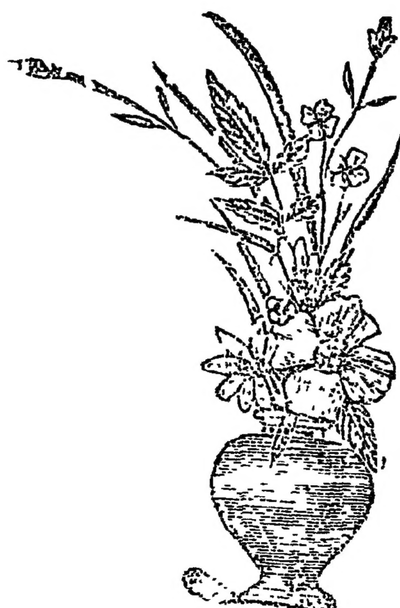
मनुः अ० ३

२५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले लड़के १६ वर्ष तक लड़की की संज्ञा वसु और वस्वी होती है वे ही सन्तान के पिता माता होने के योग्य होते हैं। २० वर्ष की ब्रह्मचारिणी और ३६ वर्ष के ब्रह्मचारी इनकी रुद्राणी और रुद्र संज्ञा है ये पितामह और पिता महीवत् हैं। २४ की ब्रह्मचारिणी और ४८ वर्ष का ब्रह्मचारी इनकी आदित्या और आदित्य संज्ञा कही है ये प्रपितामही और प्रपिता महवत् हैं यही सनातनी श्रुति है इसको वेदों और छान्दोग्य में देखो।

६—बस ये ही पूर्वोक्त पितर हैं जब तक वसु वस्वी, रुद्र रुद्राणी, आदित्य आदित्या नामके ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी बन कर विवाह करते हैं तभी तक सच्चे माता पिता पितर कहलाने के योग्य होतेहैं जब जब ब्रह्मचर्य का लोप होजाता है तो विषय कामना से अयोग्य विवाह, बाल्य विवाह, वृद्ध विवाह के नर

नारियोंकी माता पिता वा पितर संज्ञा मानना वेदों के सर्वथा विरुद्ध और सष्टि क्रम के भी विरुद्ध है।

७--इस सम्पूर्ण प्रकरण के विचार से यह बात सिद्ध होती है कि लुप्त पिंडोदक क्रिया का अर्थ आटे के पिंडा देना नहीं किन्तु यहां पर पिण्ड नाम शरीर का है और उदक नाम वीर्य का है शारीरिक वीर्य सेचन क्रिया का लोप हो जाने से ब्राह्मण क्षत्रियादि के वसु वसवा, रुद्र रुद्राणी, आदित्य आदित्यानी पितरों की श्रेणी पतन हो जावेगी इसी अर्थ के मानने से अर्जुन का कहना सत्य ठहरता है देखो ज्ञानचक्षु से इस पृथिवी पर अब वैदिक माता पिता का कहीं भी पता नहीं है यदि पुनरपि ब्रह्मचर्याश्रम का प्रचार होवे तो वर्षों के बाद कहीं पितरों का दर्शन हो सकेगा।



भगवद्गीता



धृतराष्ट्र उवाच

धर्म क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामका पांडवाश्चैव किमकुर्वतसंजय ॥१॥

राजा धृतराष्ट्र ने संजय नाम मन्त्री से पूछा कि हे संजय धर्मानुकूल कुरुओं के क्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए हमारे पुत्र कौरव और पांडव क्या कर रहे हैं ॥१॥

(संजय उवाच)

दृष्ट्वातुपांडवानीकं व्यूढंदुर्योधनस्तदा।
आचार्य्यमुपसंगम्य राजा वचन मब्रवीत्॥२॥

संजय बोला कि हे राजन्! पांडवों की सेना के व्यूह को देखकर दुर्योधन द्रोणाचार्य के समीप जाकर यह वचन बोला॥२॥

पश्यैतांपांडुपुत्राणामाचार्य महतींचमूम्।
व्यूढांद्रुपद पुत्रेणतवशिष्येण धीमता॥३॥

हे आचार्य! महाराज पांडु के पुत्र की इस बड़ी सेना को देखिये जोकि आपके शिष्य बुद्धिमान द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने सेना व्यूह रचा है ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमायुधि ।
युयुधानोविराटश्च द्रुपदश्चमहारथाः ॥४॥

इस युद्ध में भीमसेन और अर्जुन के समान शूरवीर महा-रथी, युयुधानु विराट और द्रुपद जैसे शक्तिमान हैं ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्चवीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्ति भोजश्च शैव्यश्चनरपुंगवः ॥५॥

धृष्टकेतु, द्रुपद का पुत्र, चेकितान, अति पराक्रमी काशी देश का राजा, शिवदेश का राजा, पुरुजित् और राजा कुन्तीभोज जोकि नरों में श्रेष्ठ हैं ॥५॥

युधामन्युश्चविक्रान्त उत्तमौजाश्चवीर्यवान् ।
सौभद्रोद्रौपदेयाश्च सर्वएते महारथाः ॥६॥

युधामन्यु और उत्तमौजा ये दोनों अनेक प्रकार की शस्त्र विद्या में पारंगत हैं तथा सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्र अतिविन्ध्यादि ये सब महारथी हैं ॥६॥

अस्माकन्तु विशिष्टायेतान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायकाममसैन्यस्यसंज्ञार्थं तान्ब्रवीमिते ॥७॥

हे द्विजोत्तम ! जो २ शूरवीर हमारी सेना में मुख्य २ हैं उनको भी आप जानिये जोकि मेरी सेना के नायक हैं उनको भी आपके जानने के लिये कहता हूं ॥७॥

भवान्भीष्मश्चकर्णश्च कृपश्चसमितिंजयः ।
अश्वत्थामाविकर्णश्चसौमदत्तिस्तथैवच ॥८॥

हे आचार्य ! संग्राम के जीतने वाले प्रथम तो आप और भीष्मपितामह, कर्ण और आपका पुत्र अश्वत्थामा, मेरा भाई विकर्ण और सौमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा ॥८॥

अन्येच वहव: शूरा: मदर्थेत्यक्तजीविता: ।
नानाशस्त्रप्रहरणा: सर्वेयुद्ध विशारदा: ॥९॥

हे गुरो ! मेरे लिये समर्पण किया है जीवन जिन्होंने ऐसे अन्य भी अनेक शूरवीर जोकि नाना प्रकार के शस्त्र चलाने में चतुर और सभी युद्ध विद्या में कुशल हैं ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं वलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तंत्विदमेतेषां वलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

परन्तु भीष्मजी से सुरक्षित हमारी सेना का वल असमर्थ है किन्तु भीमसेन संरक्षित पांडवों की सेना का वल समर्थ है ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथा भागमवस्थिता: ।
भीष्म एवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्वएवहि॥११॥

भा० अर्थ–सब योधाओं को चिताता हुआ दुर्योधन उच्चनाद से बोला कि हे शूरवीरो ! अपने २ व्यूहों के अधिकारों पर डटे हुये आप सब ओर से भीष्मजी की रक्षा करो ॥११॥

तस्य सं जनयन्हर्षं कुरू वृद्ध: पितामह: ।
सिंहनादं विनद्योच्चैःशंखंदध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

भा० अर्थ–तब कुरुओं के वृद्ध पितामह भीष्मजी ने दुर्योधन के हृदय में उत्साह उत्पन्न करते हुए सिंह के समान ऊंचा नाद करने वाले अपने शंख को वजाया ॥१२॥

ततःशंखश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्तसशब्दतुमुलोऽभवत् ॥१३॥

भा० अर्थ–भीष्मजी के शंखनाद के वाद सहसाही अन्य योद्धाओं के भी शंख, भेरी, ढोल, गोमुख वाजे एक साथ वजने लगे और उन सब की ध्वनि एक होकर आकाश में गूंजने लगी ।१३।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवःपांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतः ॥१४॥

तब कौरवी सेना के वाजों के वाद सफेद घोड़ों वाले रथ पर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन आदि ने भी दिव्य शंखों को बजाया ॥१३॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मावृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्णजी ने, पांचजन्य शंख को और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख को और युद्ध में भयानक कर्म करने वाले भीमसेनजी ने पौण्ड्र नामी शंख को वजाया ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रोयुधिष्ठिरः ।
नकुलःसहदेवश्च सुघोषमणि पुष्पकौ ॥१६॥

सुवीरा कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर ने अनन्त विजय और नकुल ने सुघोष मणि तथा सहदेव ने पुष्पक नामी शंखोंको वजाया ॥१६॥

काश्यश्चपरमेष्वासः शिखंडीच महारथः ।
धृष्टद्युम्नोविराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

हे पृथिवीपते ! धृतराष्ट्र शत्रुविदारक बाणों का चलाने वाला काशी देश का राजा और महारथी शिखंडी तथा धृष्टद्युम्न और विराट तथा अपराजित सात्यकी ॥१७॥ राजा द्रुपद श्रीमती द्रौपदी के पांचों पुत्र और दीर्घ भुजाओं वाला सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु ये सब ओर से अपने २ शंखों को बजाने लगे॥ १८॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

वह शंखों का घोर शब्द एकतार होकर आकाश और पृथिवी पर गूंजता हुआ धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को चीरता हुआ पार निकल गया ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे धृतराष्ट्र, शंखध्वनि के पश्चात व्यूह रचना से युक्त शस्त्र प्रहार करने के लिये तैयार दुर्योधन की सेना को कपिध्वज अर्जुन ने देख कर श्रीकृष्ण जी से यह वाक्य कहा कि हे भगवन् ! दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलकर मेरे रथ को खड़ा कर दीजिये।२०।२१।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

युद्ध की कामना से खड़े हुए योधाओं को प्रथम मैं अच्छी तरह देखलूं कि मुझे किन के साथ युद्ध करना चाहिये ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्यदुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय करने की इच्छा वाले ये इतने योधा जो इस युद्ध में आये हैं उनको मैं देखूंगा ॥२३॥

एवमुक्तोहृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वारथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषांचमहीक्षिताम् ।
उवाच पार्थपश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

हे धृतराष्ट्र, इस प्रकार क्षत्रियों में प्रबल वीर अर्जुन से कहे गये श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में रथ को खड़ा करके, भीष्म और द्रोणाचार्य और सब राजाओं के सन्मुख अर्जुन से कहा कि हे कुन्तीपुत्र ! युद्ध के लिये इकट्ठे हुए इन कुरुवंशियों को आप देखो ॥ २४॥२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थःपितॄनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वसुरान्सुहृदश्चैवसेनयोरुभयोरपि । तान्
समीक्ष्यसकौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

कृपयापरयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमंस्वजनंकृष्णं युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्तिममगात्राणि मुखंचपरिशुष्यति ।
वेपथुश्चशरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

उस समय अर्जुन ने उन दोनों सेनाओं में युद्ध के लिये खड़े हुये अपने पितरों व पितामहाओं, आचार्यों और मामाओं, भाइयों, और पुत्रों व नातियों, मित्रों और श्वसुर तथा सुहृदों ही को देखा । वह कुन्ती पुत्र अर्जुन दोनों सेनाओं में खड़े हुये अपने कुटुम्बियों को देखकर अत्यन्त कृपालु हो दुखित हृदय से यह वचन बोला, हे कृष्ण युद्ध की इच्छा से खड़े हुये अपने कुटम्बियों को देख कर मेरे सब अंग शिथिल होते जाते हैं और मुख सूखता जाता है, देह कांपती है और रोमांच खड़े हो गये हैं ॥२६॥२७॥ २८॥२९॥

गांडीवं स्रंसतेहस्तात्त्वक् चैवपरिदह्यते ।
नचशक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
नचश्रेयोऽनुपश्यामिहत्वास्वजन माहवे ॥३१॥

हे केशव मेरे हाथ से गांडीव धनुष गिरा जाता है, देह की त्वचा में अग्नि भभकती है, मेरा मन चक्र की नाई घूमता है । इस लिये में युद्ध भूमि में ठहरने के योग्य नहीं हूं ॥३०॥ हे कृष्ण युद्ध के कारणों को भी विजय की इच्छा से उलटे ही देखता हूं यदि विजय हो भी जावे तो भी युद्ध में अपने कुटम्बियों को मारकर कल्याण नहीं देखता हूं ॥३१॥

नकांक्षे विजयंकृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किंनोराज्येनगोविन्द किंभोगैर्जीवितेनवा ।३२।

येषामर्थे कांक्षितं नोराज्यं भोगाः सुखानिच ।
तइमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानिच॥ ३३

हे कृष्ण ! न मैं विजय को चाहता हूं और नाहीं विजय से प्राप्त होने वाले राज्य सुखको चाहता हूं । हे गोविन्द ! ऐसे राज्य से हमको क्या सुख और सब कुटम्ब के नष्ट होने पर ऐसे भोगों और जीवन से भी क्या प्रसन्नता क्योंकि जिन के लिये हम राज्य भोग सुखों को चाहते हैं ये सब धन और प्राणों को भी त्याग कर युद्ध की इच्छा से सन्मुख खड़े हुये हैं । ॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैवचपितामहाः ।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४

एतान्नहन्तुमिच्छामिघ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपित्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किन्नुमहीकृते॥ ३५॥

हे मधुसूदन ! युद्ध में यदि आचार्य लोग, पितर, पुत्र और भीष्म आदि पिता महशल्य आदि मामा, द्रुपदादि श्वशुर, पौत्र, साले, अन्य नातेदार ये सब मिलकर भी यदि मुझ को मारने लगें तो भी मैं इनको त्रिलोकी का राज्य मिलने पर भी मारने की इच्छा नहीं करता तो एक पृथ्वी का राज्य क्या वस्तु है ॥३४॥ ॥३५॥

निहत्यधार्त्तराष्ट्रान्नः काप्रीतिस्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥
तस्मान्नार्हावयंहंतुंधार्त्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथंहत्वासुखिनः स्याममाधव ॥३७॥

हे जनार्दन धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमको क्या आनन्द होगा किन्तु इन मारने की इच्छा वाले आततायी स्वजनों को मार करके भी पाप होगा ॥३६॥ इस हेतु से हे माधव ! अपने भाई धृतराष्ट्र के पुत्रों को हम मारने योग्य नहीं क्योंकि भाइयों को मार कर कैसे सुखी होंगे ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथन्न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि ये दुर्योधनादि लोभ से नष्ट बुद्धि वाले होकर कुल नाश करने के दोष और मित्र द्रोह के पातक नहीं देखते हैं। तो क्या हे जनार्दन ! कुलके नाश रूपी दोषको जानते हुए भी विचारवान होकर हमको क्यों नहीं इस पाप से हटना चाहिये ॥३८॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

राजकुलों के नाश होजाने पर शेष कुलों में से विना दंड के सनातन वैदिक धर्मों का नाश हो जाता है। धर्म के नाश हो जाने पर शेष कुलों को अधर्म दबा लेता है। अधर्म से व्याप्त कुलों की स्त्रियां व्यभिचारादि दोषों से द्विज कुलों को कलंकित करती हैं, हे वृष्णि वंशी कृष्ण व्यभिचारादि दोषों से दूषित स्त्रियों में वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नाना कुलस्यच ।
पतन्तिपितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया ॥४२॥

इन जैसे कुलघातकों को और शेष बचे हुए कुलों को अनार्यों से आर्य स्त्रियों में उत्पन्न वर्णसंकर प्रजा नरक ही में गिराने के लिये होती है और फिर आर्य राजकुलों की वेदानुकूल गर्भाधानादि वीर्य सेचन की जो क्रिया है उसके लोप हो जाने से इन आर्य राजकुलों में से पितर प्रणाली गिर जाती है ।

दोषैरेतैः कुलघ्नानांवर्णसंकर कारकैः ।
उत्साद्यन्तेजातिधर्माः कुलधर्माश्चशाश्वताः४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेनियतं वासो भववतीत्युनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन! वर्णसंकरता के करने वाले इन कुलघातकों के कुलों में उत्पन्न हुये व्यभिचारादि दोषों से आर्यजाति के सामुदायिक धर्म और ब्राह्मण क्षत्री वैश्यों के कुल के धर्म उठ जाते हैं ॥४३॥ और जब गर्भाधानादि संस्कार कुल के धर्म और वेदों का पढ़ाना प्रजा रक्षण, दानादि, ब्राह्मण क्षत्रियों के सामुदायिक धर्म छूट जाते हैं तो निश्चय करके सब मनुष्य जाति का नरक में वास होता है यह हमने विद्वानों से सुना है ॥ ४४*

---

* हा शोक ! दीर्घदर्शी अर्जुन ने इन भविष्य दुःखों को बताया था परन्तु देख नहीं पाये और नाहीं दुर्योधन ने देखे परन्तु भारत अब उक्त दुःखों से ग्रसा हुआ बहुत काल से अश्रुपात कर रहा है ॥

अहोवतमहत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है कि जो विवेकी होने पर भी महान् पाप करने के लिये हम उद्यत हुये हैं जो राज सुख के लोभ से अपने गुरु, मित्र और बान्धवों के नाश करने को तय्यार हुए हैं ।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणेहन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥
एवमुक्त्वार्जुनः सख्येरथोपस्थ उपाविशत् ॥
विसृज्य सशरंचापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

यदि शस्त्रहीन और अपने बचाने के उपाय को न करते हुए भी मुझको धृतराष्ट्र के पुत्र शस्त्र से मार डालें तो ऐसी मृत्यु मेरे लिये अत्यन्त कल्याण करने वाली हो ॥ ४६ ॥

इस प्रकार कृष्णजी से कहकर शोक से व्याकुल चित्त अर्जुन धनुषबाण को त्याग संग्राम भूमि में रथ के निकट बैठ गया ॥४७॥

इति श्री व्यास कृता वेदानुगा रत्न समुच्चया गीता आर्य-
भाषार्थ सहिता प्रथमोध्यायः ॥ १ ॥



अथ द्वितीयोऽध्याय

❁ संजय उवाच ❁

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्य मुवाच मधुसूदन ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र से संजय ने कहा कि हे राजन् ! इस प्रकार अर्जुन की दशा देखकर आंखों में आंसू भरे हुए कुछ समय तक अत्यन्त दुःखी हुए पुनः कृपालु होकर श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को यह उपदेश किया ॥ १ ॥

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतपः ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! मूर्खों से सेवित स्वर्ग से गिराने वाला कीर्ति का नाशक यह पाप कर्त्तव्य से उलटा तुम्हारे चित्त में कैसे उत्पन्न हुआ ॥२॥ हे पार्थ ! कायरता मत करो तुम जैसे शूरवीर में यह कायरता शोभा नहीं देती । हे शत्रुओं के तपाने वाले वीर इस मन की दुर्बलता और नीचता को त्याग कर शत्रुओं को तपाने के लिये शीघ्र उठो ॥ ३ ॥

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरि सूदन ॥४॥

गुरून हत्वा हि महानुभावान्, श्रेयोभोक्तुं-भैक्ष्य मपीह लोके। हत्वार्थकामांस्तु गुरू निहैव, भुंजीय भोगान् रुधिरः प्रदग्धान ॥ ५ ॥

हे मधुसूदन! मैं संग्राम में, पूजा के योग्य भीष्मजी व द्रोणाचार्य्य जी को बाणों से कैसे मारूंगा ॥ ४ ॥ इससे तो इस लोक में महानुभाव गुरुओं को न मारकर भिक्षा का अन्न खाना ही अच्छा है परन्तु राज्य धनादि कामना पूरी करने के लिये गुरुओं को मार कर इस जन्म में रुधिर से सने हुये भोगों को मैं भोगूं क्या यह मुझको करना उचित है ॥ ५ ॥

नचैतद्विद्मः कतरन्नोगरीयो यद्वाजयेम यदि वा-नो जयेयुः। यानेव हत्वा न जिजीविषाम स्तेऽवस्थिताः प्रमुखेधार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

हे कृष्णजी! जिनको मार कर हम जीवित रहने की इच्छा नहीं करते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र सन्मुख खड़े हुए हैं। यदि हम इनको जीतेंगे वा वे हमको जीतेंगे यह भी हम निश्चय नहीं जानते। अतः युद्ध करना चाहिये वा नहीं करना चाहिये इन दोनों कार्यों में से कौनसा अच्छा है यह आप बताइये ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोऽपहतःस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म सम्मूढचेताः। यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे-शिष्य स्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

हे कृष्ण! धर्म के विषय में इस समय भ्रांति युक्त होने से तथा धर्म की कृपणता रूप दोष से मेरी चित्त वृत्ति नष्ट हो रही

है इसी से मैं आपको पूछता हूं कि मेरे लिये पूर्वोक्त दोनों कार्यों में से जो कल्याण का मार्ग हो वही निश्चय से उपदेश कीजिये क्योंकि मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण हूं, आप मुझको निर्भ्रम शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोक मुच्छोषण मिन्द्रियाणाम् । अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्त्यम् ॥ ८ ॥

हे कृष्ण इस पृथ्वी पर शत्रुओं से रहित राज्य को पाकर और विद्वानों के मध्य में प्रतिष्ठा को पाकर भी तुम्हारे विना इन्द्रियों को सुखाने वाला जो मेरा शोक है उसको दूर करे ऐसा दूसरा पुरुष मैं नहीं देखता हूं ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्द मुक्त्वा तूष्णींबभूवह ॥९॥

संजय बोला कि हे परंतप ! धृतराष्ट्र अर्जुन ने श्रीकृष्णजी से ऐसा कह कर पुनः कहा कि हे गोविन्द मैं नहीं लडूंगा यह कहके चुप होगया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्त मिदं वचः ॥१०॥

हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओं के वीच में स्थित बड़े दुःख को प्राप्त हुये उस अर्जुन से हंसते हुये की तरह श्रीकृष्णजी यह उपदेश करने लगे ॥ १० ॥

अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासून गतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः॥११॥

हे अर्जुन ! जो शोक करने के योग्य नहीं हैं उन दुर्योधनादि का जो आप शोक करते हो इससे तुम अज्ञानी भी नहीं जान पड़ते क्योंकि बुद्धिमानों की तरह बोलते हो सो भी ठीक नहीं क्योंकि इन मरे हुओं के तुल्य जीते हुये अधर्मियों का पंडित लोग शोक नहीं करते ।

नत्वेवाहं जातुनासं नत्वं नेमे जनाधिपाः ।
नचैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२॥

हे अर्जुन ! ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जन्म से पूर्व मैं नहीं था किन्तु अवश्य था और तुम भी ऐसा न मानो कि हम नहीं थे किन्तु अवश्य थे । और ये सब राजा लोग भी न थे यह नहीं किन्तु जरूर थे और इससे आगे भविष्यत् में भी यह नहीं हो सकता कि नहीं होंगे किन्तु हम सब भविष्यत् में भी होंगे ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तर प्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

इस वर्त्तमान देह में मनुष्य की बाल, युवा और बुढ़ापा ये तीन अवस्था होती हैं वैसे ही मरने के बाद अन्य देह के प्राप्त होने पर भी ये तीन होंगी ऐसा जानकर विवेकी पुरुष इस देह का मोह नहीं करते हैं ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांतितिक्षस्व भारत॥ १४॥

हे कुन्ती के पुत्र ! शब्द आदि पंचतन्मात्रा तो इन्द्रियों के द्वारा शीत गर्मी सुख दुःखों के देने वाले हैं और उत्पत्ति विनाश धर्म

वाले होने से अनित्य हैं हे भारत ! उनको आप वीरता से सहन करो ॥१४॥

यंहिन व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःख,सुखंधीरंसोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषो में श्रेष्ठ अर्जुन, जिस धीर दृढ़, अन्तः करण वाले तथा सुख दुःखों में समान रहने वाले पुरुष को ये पूर्वोक्त विषयः पीडित नहीं कर सकते वही मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥१५॥

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्व नयोस्तत्वदर्शिभिः॥१६॥

निर्मूल पदार्थ का भाव अर्थात् अवस्थान्तर नहीं होता अर्थात् नेस्ती से हस्ती नहीं हो सकती और समूल पदार्थ अर्थात् कारण वाले का अभाव यानी नेस्ति नहीं हो सकती इन दोनों का सिद्धान्त तत्ववेत्ता लोगों ने प्रत्यक्ष देखा है ॥१६॥

अविनाशितुतद्विद्धियेन सर्वमिदंततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

हे अर्जुन ! जिस जीवात्मा ने विचित्र राज्यादि भोग्य वस्तुओं का विस्तार किया है उसको तू अविनाशी जान इस अव्यय जीवात्मा का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है ॥१७॥

अन्तवन्न इमेदे हा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्यतस्माद्युध्यस्वभारत ॥१८॥

हे भारत, नाश रहित और परिमाण रहित शरीर धारी स्वरूप से नित्य जीवात्माओं के ये शरीर तो मरण धर्म वाले अव-

श्य हैं इस हेतु से आत्मा को नित्य जानकर आप युद्ध में तत्पर हो जाओ ॥१८॥

य एनंवेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१६॥

जो इस नित्य जीवात्मा को यह जानता है कि युद्ध में किसी जीवको मारने वाला है और जो शरीरसे वियोग होते हुये को यह मानता है कि यह जीवात्मा नाश हो गया वे दोनों ही आत्म स्वरूप को नहीं जानते हैं क्योंकि यह जीवात्मा न किसी आत्मा को नाश कर सकता है और न स्वयं नाश होता है ॥१९॥

न जायते म्रियते वाकदाचिन्नायं भूत्वा भविता वानभूयः । अजोनित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह जीवात्मा कभी किसी वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ न कभी मरण को प्राप्त होता और न कभी हुआ था और न भविष्यत में होगा । यह तो नित्य अजन्मा सनातन नवीनता से रहित पुराना है शरीर के नाश होने पर यह नाश नहीं होता ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्
कथंस पुरुषःपार्थ कं घातयति हन्तिकम् ॥२१॥

हे पार्थ ! जोपुरुष इस जीवात्मा को उत्पत्ति रहित न्यूनाधिकता से पृथक् अविनाशी जानता है वह किसको मरवा सकता और किसको मारता है अतः आत्मा मरण धर्मा नहीं है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो-

ऽपराणि । तथाशरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे पुरुष पुराने कपड़ों को त्याग कर नवीन कपड़े धारण करता है। वैसे ही जीवात्मा भोगों से जीर्ण हुए इस शरीर को त्याग कर दूसरे अन्य नवीन शरीर को ग्रहण करता है ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्यएवच ।
नित्यः सर्वगतःस्थाणुरचलोयंसनातनः॥२४॥

इस जीवात्मा को शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता, अग्नि जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती ॥२३॥ यह जीवात्मा इस लिये छेदन और जलाने गलाने सुखाने आदि से नाश न होने से नित्य है और सर्वयोनियों में जाने आने वाला है, अणुपरिमाण से स्थित, स्वरूप से अचल निर्विकार सनातन अर्थात् अनादि है ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने वाला और न मन वुद्धि से चिन्तन में आने वाला है किन्तु स्वरूप से निर्विकार है इस हेतु से आप भी इसके स्वरूप को जान कर पश्चात्ताप करने योग्य नहीं हो ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महावाहोनैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा हे दीर्घभुज ! कदाचित् आप इस नित
त्मा को नित्य पैदा और मरने वाला जानते हो तो
करने योग्य नहीं हो क्योंकि ॥ २६ ॥

जातस्यहि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच।
तस्मादपरिहार्येऽर्थेनत्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जो पैदा होता है निश्चय ही उसकी मृत्यु होती है और जो मरता है निश्चय उसका पुनर्जन्म होता है। संयोग के अन्त में वियोग और वियोग के अन्त में संयोग का होना यह नियम अटल है। इस कारण से भी आप शोक करने योग्य नहीं हो।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत ! अति सूक्ष्म अतीन्द्रय प्रकृति ही जिनका आदि कारण है ऐसे जो प्रकट स्थूल पांच भौतिक शरीर आदि पदार्थ हैं वे अव्यक्त प्रकृति ही में लीन होने वाले हैं उसमें आप जैसे ज्ञानी को क्या दुःख मानना चाहिये।

आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेन मारचर्यवद्वदति-तथैवचान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोतिश्रुत्वा प्येनं वेदनचैव कश्चित् ॥२९॥

हे अर्जुन ! इस आत्मा को समाधियोगके द्वारा ही कोई पुरुष आश्चर्य की नाईं देखता है, और कोई विद्वान् इसको जान कर आश्चर्यवत् कहता है और कोई सुनने वाला चतुर पुरुष भी इस

को सुनता हुआ आश्चर्य करता है तथा कोई सुनकर भी इस आत्म स्वरूप को नहीं समझ सकता है ॥ २९ ॥

देहीनित्यमवध्योऽयं देहे सर्वत्र भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।३०।

हे भारत ! यह देह का स्वामी जीवात्मा सब देहों में नित्य अमर है इस कारण से आप शोक करने के योग्य नहीं हो ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितु मर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्यन विद्यते ।३१।

हे अर्जुन ! आप अपने क्षत्रिय धर्म को विचार करके भी डरने के योग्य नहीं हो क्योंकि क्षत्री को युद्ध रूप धर्म से अन्य धर्म कल्याण का देने वाला नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्ग द्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियापार्थलभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।

हे पार्थ ! खुले हुये किवाड़ों की नाईं स्वर्गका द्वार आज अकस्मात् प्राप्त हुआ है इस प्रकार के युद्ध को स्वर्ग सुख की इच्छा वाले क्षत्री लोग ही लाभ करते हैं कायर कभी नहीं ॥ ३२ ॥

अथचेत्वमिमंधर्म्यसंग्रामं न करिष्यसि ।
ततःस्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वापापमवाप्स्यसि॥३३
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्तितेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्यचाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

हे अर्जुन ! यदि आप अपने क्षत्रिय धर्म के अनुकूल होने पर भी जो युद्ध न करोगे तो अपने धर्म और उसकी कीर्त्ति को

त्यागने से पाप के भागी होगे और भविष्यत में प्राणी मात्र आप की परस्पर निन्दा की कथा कहा करेंगे। और जीते हुये पुरुष की निन्दा उसको मरने से भी अधिक दुःखदायक होती है ॥३३,३४

भयाद्रणादुपरतं मस्यंतेत्वां महारथाः।
येषां चत्वं वहुमतोभूत्वायास्यसि लाघवम्॥३५॥
अवाच्यवादांश्चवहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दंतस्तवसामर्थ्यं ततोदुःखतरन्नुकिम् ॥३६॥

हे अर्जुन ! डरपोक होने के कारण से आप को ये महारथी योधा युद्ध से उदास न होना मानेंगे और जिनके मन में आप की प्रतिष्ठा है उनके चित्त में अव आप तुच्छता को प्राप्त होओगे। और जो आपके शत्रु हैं वे निन्दित वचनों को कहेंगे और आपके पराक्रम की निन्दा करते हुये अनेक दोष लगावेंगे इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा।

हतोवा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः॥ ३७ ॥ सुख दुःखे समे कृत्वा लभा लाभौजयाजयौ। ततोयुद्धाय युज्यस्व नैवं पाप मवाप्स्यसि ॥३८॥

हे अर्जुन यदि आप शत्रु के सन्मुख वीरता से युद्ध करते हुये मारे जाओगे तो स्वर्ग को पाओगे और यदि शत्रुओं को मार डालोगे तो पृथिवी का राज्य भोगोगे, इस कारण से आप युद्ध के लिये निश्चित बुद्धि होकर तय्यार हो जाओ। और क्षत्री धर्म

को समझ कर सुख दुःख लाभ हानि तथा हार जीत इनको एक से जानकर युद्ध के लिये तत्पर हो जाओ तो पाप के भागी न बनोगे ।

एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्त्विमांश्रृणु ।
बुध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३६॥

हे पार्थ ! यह आपके लिये हमने सांख्य में उक्त ज्ञानका उपदेश किया और अब कर्म योग में कही हुई विवेक युक्त बुद्धि का उपदेश सुनो; जिस बुद्धि से आप बन्धन में फंसाने वाले कर्मों को नष्ट कर दोगे ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

हे अर्जुन ! इस लोकमें योग युक्त कर्म से किये हुये फल का नाश नहीं होता और उलटा फल भी नहीं होता किन्तु इस योग युक्त धार्मिक कर्म का थोड़ा सा अभ्यास भी बड़े भय से तार देता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धि रेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ४१।

हे कुरुनन्दन ! कर्मयोगी की निश्चयात्मिक निर्भ्रम बुद्धि एक ही होती है परन्तु कर्मयोग को न जानने वाले अनिश्चित भ्रान्त चित्त वालों की बुद्धियां अनेक संकल्प विकल्प रूप शाखाओं से युक्त असंख्य प्रकार की होती हैं ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थनान्य दस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म कर्म फलप्रदाम्।
क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्य्यं गतिंप्रति॥ ४३॥

हे अर्जुन! वेद के सिद्धान्त से अज्ञ वेद के विषय में वाद-विवाद करने वाले अविद्वान् लोग जिस इस पुष्पों के समान कोमल वाणी से उपदेश करते हैं कि जो हम कहते हैं वही सत्य है अन्यों का उपदेश ठीक नहीं है॥ ४२॥ वे वास्तव में विषय भोगों में फंसे हुये मनुष्य कर्मों का फल केवल जन्म ही होता है अतः उत्तम कर्मों से उत्तम सुख युक्त स्वर्ग मिलता है इसलिये विषय भोग और धनादि पदार्थों की प्राप्ति में ही उनकी प्रवृत्ति सदा रहती है॥ ४३॥

भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयाप हृत चेतसां।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौनविधीयते॥ ४४॥

परन्तु उक्त प्रकार के वेदानभिज्ञ उपदेशकों के द्वारा हरी गई है बुद्धि जिनकी उन भोग और ऐश्वर्य्य की लालसा में फँसे हुए पुरुषों की व्यावहारिक बुद्धि समाधि योग में नहीं प्रवेश कर सकती है॥ ४४॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतःसंप्लुतोदके। तावा-न्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४५॥

जैसे जलार्थी मनुष्य भरे हुए सरोवर में से उतना ही जल लेता है जितना कि उसकी आवश्यकता है उसी प्रकार विज्ञानी

वेदज्ञ ब्राह्मण का विज्ञान रूपी सरोवर चारों वेदों में से नित्य उतना ही प्रयोजन है जितना कि जिस आश्रम में कर्त्तव्य होता है चारों के कर्त्तव्य को एक साथ कोई नहीं कर सकता अतः आप का गृहाश्रम धर्म सम्बन्धी क्षात्र धर्म ही कर्त्तव्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥४६॥

हे अर्जुन! आपका कर्म करनेमें अधिकार है परन्तु फल लेने में अधिकार नहीं क्योंकि फल दाता तो ईश्वर है इस लिये तुम कर्म फल के अभिमानी मत बनो और न वेदोक्त क्षात्र धर्म के विरुद्ध कर्म करो।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगंत्यक्त्वा धनंजय।
सिध्यसिध्योः समं भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४७॥

हे धनजय! फल भोग की आशा को छोड़ कर और सिद्धि असिद्धि को एक सी जान कर एकाग्रचित्त से क्षात्र धर्म के कर्मों को करो क्योंकि चित्त वृत्ति को निरोध करके ही कर्म करने का नाम योग कहाता है ॥४७॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि योगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फल हेतवः ॥४८॥

हे अर्जुन! योगज बुद्धि के द्वारा निकृष्ट सकाम कर्म को दूर से ही त्याग दे क्योंकि फल की इच्छा से कर्म करने वाले ही दीन होते हैं अतः आप योगजबुद्धि की शरण गहो ॥४८॥

बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥४९॥

इस जगत् में योगज बुद्धि युक्त पुरुष ही परस्पर मिले हुए पुण्य पाप रूप कर्मों को त्यागता है इस लिये आप मनोवृत्ति को निरोध करने के लिये तयार हो जाओ क्योंकि कर्मों के करने में जो कुशलता है वही योग है।

कर्मजम्बुद्धि युक्ताहि फलं त्यकत्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताःपदं गच्छन्त्य नामयम् ॥५०॥

मन को वश में रखने वाले पुरुष कर्मों से उत्पन्न होने वाले फलों की इच्छा को त्याग कर ही जन्म मरण के बन्धन से छूटे हुए सब दुःखों से रहित मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं ॥५०॥

यदाते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासिनिर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्यच ॥५१॥

हे अर्जुन! जब तुम्हारी बुद्धि अज्ञानसे होने वाले पाप रूपी समुद्र को उल्लंघन कर पार होगी तब आप सुनने योग्य सांसारिक विषय और सुने हुए विषयों की आसक्ति से विरक्त होजाओगे॥५१

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदास्था स्यति निश्चला
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५२॥

हे अर्जुन! आपकी वाह्य विषयोंकी वासना से पृथक् निश्चल हुई बुद्धि जब समाधि में स्थिरता को प्राप्त हो जावेगी तब योग के फल को प्राप्त होओगे ॥५२॥

❋ अर्जुनोवाच ❋

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीःकिं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५३॥

हे केशव ! समाधि में स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का कैसा स्वरूप होता है । स्थित बुद्धि वाले पुरुष की वाणी वा बोल चाल कैसी और उठना बैठना तथा जाना आना किस प्रकार का होता है॥५३॥

(कृष्ण उवाच)

प्रजहाति यदाकामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मनातुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५४॥

कृष्ण जी बोले कि हे अर्जुन ! मन में स्थित सब भोगों की कामनाओं को जब पुरुष त्याग देता है और परमात्मा के ध्यान में अपने आत्म स्वरूप से सन्तुष्ट होता है तब वह स्थिर बुद्धि कहा जाता है ॥५४॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः ।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधीमुनिरुच्यते ॥५५॥

जिसके चित्त से राग भय और क्रोध की वृत्तियां दूर हो गईं और दुःखों के होने पर व्याकुल नहीं होता तथा संसारी सुखों की इच्छा नहीं करता वही मननशील संयमी पुरुष स्थिर बुद्धि वाला कहाता है ॥५५॥

यःसर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५६॥

जो पुरुष सब भले बुरे सुख और दुःखों के प्राप्त होने पर उस २ इष्टानिष्ट में प्रेम रहित हुआ न आनन्द मानता है और न दुःखी होता है उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥५६॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

और जब यह जिज्ञासु शब्द स्पर्शादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को सब ओर से कच्छप के अंगों की तरह खींच कर प्राण में लय करता है उस समय उसकी प्रज्ञा स्थिर होजाती है ॥५७॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५८॥

* शब्द स्पर्शादि कर्ण आदि इन्द्रियों के आहार की इच्छा को छोड़ देने वाले जितेन्द्रिय पुरुष के कटुतिक्त मधुरादि सात्विक और के लिये सात्विक रस को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों के सब विषय निवृत्त हो जाते हैं। और इस जिज्ञासु पुरुष का सात्विक रस भी परमात्मा के साक्षात् कर लेने पर निवृत्त होजाता है ॥५८

---

* इस श्लोक के निराहार पद का अनेक टीकाकारों ने भोजन न करने वाले पुरुष का, अर्थ किया है। परन्तु ऐसा अर्थ यदि अभीष्ट होता तो आगे ६ अध्याय में यह न कहते कि अधिक खाने वाले और बिल्कुल न खाने वाले को योग सिद्ध नहीं होता, देखो अध्याय। ६। १४ फिर (युक्ताहार० ६। १५ अतः यहां निराहार का अर्थ कर्ण आदि इन्द्रियों के शब्द स्पर्श आदि आहारों को जीतने वाला जितेन्द्रिय ही अर्थ ठीक है और जब युक्ताहार का योगी के लिये विधान है तो सात्विक रस युक्तभोजन भी ईश्वर के साक्षात् होने तक रहता है वह भी साक्षात् होने पर छूट जाता है ॥५८॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥५९॥

हे कुन्तीपुत्र ! मनको चलायमान कर विषयों की तरफ़ खींचने वाली इन्द्रियां यत्न करने पर भी विद्वान् पुरुष के मन को शीघ्र ही विषयों की तरफ़ ले जाती हैं ॥५९॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥६०॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६१॥

विषयों का ध्यान करते हुए पुरुष की उन विषयों में आशक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम की उत्पत्ति होती है, काम से क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है । क्रोध से मोह अर्थात् अज्ञान छा जाता है, अज्ञान से स्मृति का नाश स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश, बुद्धि के नाश होने पर पुरुष का सर्वनाश हो जाता है ॥ ६१ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६२॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानि रस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिःपर्य्यवतिष्ठतो ॥६३॥

परन्तु मन को वश में रखने वाला पुरुष राग द्वेष से रहित हो अपने वश की हुई इन्द्रियों से धर्मानुसार विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्नता को प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥ प्रसन्नता होने पर पुरुष के सब दुःखों का नाश हो जाता है क्योंकि प्रसन्न चित्त वाले की बुद्धि शीघ्र सब ओर से निश्चल हो जाती है ॥

नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्यभावना।
नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६४॥

जिसका मन वश में नहीं, उसको विवेक नहीं, जिसको विवेक, नहीं उसमें धार्मिकी श्रद्धा नहीं, जिसमें श्रद्धा नहीं है, उसके आत्मा में शान्ति नहीं जिसमें शान्ति नहीं उसको सुख कहां॥६४॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६५॥

विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के पीछे जो पुरुष अपने मन को लगा देता है वह इन्द्रियानुगामी मन इस पुरुष की बुद्धि को ऐसे हर लेता है जैसे नदी में नाव को वायु उड़ा ले जाता है॥६५॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६६

इस कारण से हे दीर्घ भुजा वाले अर्जुन! जिस पुरुष की इन्द्रियां सब प्रकार से विषयों से रोकी गई हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है॥६६॥

यानिशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशापश्यतो मुनेः॥६७

सब अज्ञानी मनुष्य जिस मोक्ष साधक निवृत्ति दशा को रात्रिवत् जान कर सोते से हैं उसमें यमनियमादि अष्टांग योग का अभ्यासी संयमी पुरुष जागता है और जिस प्रवृत्ति दशा को दिनवत् जान कर अविवेकी लोग जागते हैं वह संयमी मुनि को रात्रिवत् है॥६७॥

आपूर्य्यमाण मचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्तियद्वत् । तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥६८॥

जैसे अचल समुद्र में निरन्तरता से प्राप्त हुई वेगवती नदियां उसको चलायमान नहीं कर सकतीं उसी प्रकार संसार की सारी कामनायें योगी के अन्दर जाकर नष्ट हो जाती हैं वही शान्ति को प्राप्त होता है न कि कामों की कामना करने वाला ॥६८॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥६९॥

जो पुरुष इच्छा रहित हुआ सब भोगों को त्याग कर ममता और अहंकार रहित हो कर विचरता है वही शान्ति को प्राप्त होता है ॥६९॥

एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ नैनांप्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७०॥

हे पार्थ ! यह ब्रह्म सम्बन्धिनी स्थिति है इस अवस्था को प्राप्त हो कर पुरुष मोह जाल में नहीं फंसता और देहान्त होने के समय भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित पुरुष ब्रह्म में मोक्ष पद को प्राप्त होता है ॥७०॥

इति श्रीवेदानुगा रत्नसमुच्चये गीतायांकृष्णार्जुन संवादे

द्वितीयोऽध्यायः २



अथ तृतीयाध्यायः ३

❋ अर्जुनोवाच ❋

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मताबुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किंकर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीवमे ।
तदेकं वद निश्चित्ययेनश्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अर्जुन ने कहा हे जनार्दन ! यदि आपके मतमें कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है तो हे केशव ! मुझको इस घोर युद्ध कर्ममें क्यों लगाते हो ॥१॥ दुविधा में डालने वाले संदिग्ध वाक्यों से तो मेरी बुद्धि मोह से में डालते हो अतः निश्चय करके वह एक बात कहो जिस से मेरा कल्याण हो ॥२॥

कृष्ण उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयोऽनघ ।
ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥
न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥

श्रीकृष्ण ने कहा कि हे निष्पाप ! दो प्रकार की श्रद्धा जो मैंने तुम से वर्णन की अर्थात् सांख्य शास्त्र के ज्ञाताओं की ज्ञान योग से और योग विद्या के साधकों की कर्म योग से ॥ ३ ॥ सो हे अर्जुन! वेदोक्त कर्मों के विना आरम्भ किये कर्म बन्धन से छूटकर

उत्तम फल को जैसे नहीं पाता वैसे ही वेदोक्त कर्मों के त्याग देने से भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ॥४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

क्योंकि कभी कोई क्षण भर भी कर्म के विना किये नहीं रह सकता, प्रकृति के गुणों (सत्व रज तम) से विवश हो कर सबको कर्म करना ही पड़ता है जब तक प्राकृत शरीर है प्राणी मात्र गुणत्रय की आधीनता में कर्म करते हैं जो मूढ़ कर्मेन्द्रियों को काम से रोक कर मन में इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी कहा जाता है ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥८॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से ज्ञानेन्द्रियों को वशमें करके कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का अनुष्ठान करता है वह विषयासक्त न होने से विशेष पुरुष कहा जाता है ॥७॥ इस लिये कर्म न करने से कर्म करना ही श्रेष्ठ है । अतः आप नियमानुकूल क्षात्र कर्म को करें क्योंकि विना कर्म किये आपकी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं हो सकती ॥८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्रलोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्मकौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाचप्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

हे कुन्तीपुत्र ! यज्ञ निमित्तक कर्मों से बहिर्गत जो कर्म हैं उन से यह लोक बद्ध अवस्था वाला है इस लिये तुम शोक मोहादि की फंसावट को छोड़कर क्षात्र धर्म रूपी यज्ञ के लिये कर्म करो ॥९॥ प्रजापति ने पुरा सृष्टि उत्पत्तिकाल में यज्ञों के सहित प्रजाओं को उत्पन्न करके वेद द्वारा कहा कि हे मनुष्यो ! इस यज्ञ से तुम वृद्धि को प्राप्त हो ओ यही यज्ञ तुम्हारी सब कामनाओं को पूरा करने वाला होवेगा ॥१०॥

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

हे मनुष्यो! तुम इस यज्ञसे देवताओं को प्रसन्न करो और वे देवता तुमको प्रसन्न करें इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न करने पर परम कल्याण को प्राप्त होओगे ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवादास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्योयोभुंक्तेस्तेन एवसः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तोमुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते तेत्वघं पापायेपचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ के द्वारा प्रसन्न हुए देवता तुमको मनोवांछित भोग देवेंगे परन्तु उन देवताओं के दिये हुये भागों को यज्ञ के

द्वारा देवताओं को अर्पण न करके जो मनुष्य स्वयं भोगता है वह उनका चोर है ॥१२॥ यज्ञ से शेष रहे हुए का जो भोजन करते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं परन्तु वे पापी जो यज्ञ न कर आप ही भोगते हैं पाप को खाते हैं ॥१३॥

अन्नाद्भवन्तिभूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्मब्रह्मोद्भवंविद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्॥
तस्मात्सर्वगतंब्रह्मनित्यंयज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्न से शरीरधारी प्राणियों की उत्पत्ति होती है और अन्न वर्षा से और वर्षा दैवीयज्ञ से और यज्ञ पांच प्रकार की उत्क्षेपणादि क्रियाओं से होता है ॥१४॥ याज्ञिक कर्म वेदों से उत्पन्न हुए जानो और वेद अविनाशी ईश्वर से प्रकट हुए, इसलिये नित्य सर्वगत ब्रह्म इस यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥१५॥

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ ! जो पुरुष इस प्रकार ईश्वर के चलाये हुए यज्ञ रूप चक्र के अनुकूल आचरण नहीं करता है वह इन्द्रियारामी पाप जीवन वाला वृथा ही जीता है ॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो योगी पुरुष आत्म स्वरूप में रमण करने वाला और आत्म स्वरूप में ही तृप्त है उस आत्मभाव में संतुष्ट रहने वाले महात्मा को कोई भी सकाम कर्मकी आवश्यकता नहीं॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

क्योंकि उस महात्मा का सकाम कर्म करने अथवा न करने से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं और नहीं इसका प्राणी मात्र से किसी द्रव्यादि अर्थ का सम्बन्ध रहता है ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिये हे अर्जुन! आप फलासक्ति से रहित होकर प्रसन्नता से निरन्तर क्षात्र धर्म युक्त कर्म को करो, क्योंकि आसक्ति रहित धर्म कर्म का आचरण करता हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोक संग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥२१॥

जनकादिक परम ज्ञानी पुरुष भी वेदोक्त निष्काम कर्मों के करने से सिद्धि को प्राप्त हुए तथा लोकसंग्रह को कर्माधीन देखते हुए भी आपको कर्म करना उचित है॥२०॥ सदाचारी श्रेष्ठ पुरुष जिस २ श्रेष्ठ कर्म का आचरण करता है साधारण जन उसको देख कर वैसा ही करते हैं वह जिसको प्रमाणीक मानता है संसारी जन भी वैसा ही मानते हैं ॥२१॥

यद्यहं नानु वर्त्तेयं जातुकर्मण्यतन्द्रितः ।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थसर्वशः ॥२२॥

हे पार्थ यदि कदाचित् मैं निरालस्य होकर उत्तम कर्मों को न करूं तो मेरे अनुगामी लोग भी अकर्मी होकर आलसी होजावें ॥ २२ ॥

उत्सीदेयुरिमेलोका न कुर्यां कर्मचेदहम् ।
संकरस्य चकर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२३॥

यदि मैं कर्म न करूं तो ये मेरे पीछे चलने वाले लोग विना सत्कर्म के नष्ट भ्रष्ट हो जावें और मैं ही प्रजा को वर्णसंकर बनाने वाला ठहरूं तथा मैं ही वर्णसंकरता से प्रजा का हनन कर्त्ता होऊं ॥ २३ ॥

सक्ताःकर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २४॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२५॥

हे भारत! जैसे कर्म फलों के अनुराग में लगे हुये लोग नित्य कर्म करते हैं वैसे ही जिस से लोक में सदाचार की स्थिति रखने की इच्छा करने वाला विद्वान निष्काम भावना से नित्य कर्म करे॥२४॥ क्योंकि बुद्धिमान् को चाहिये कि फलानुराग की इच्छा से नित्य उत्तम कर्मों में लगे हुये अज्ञानियों की बुद्धि में सन्देह उत्पन्न न करे किन्तु नियम पूर्वक निष्काम भावना से वेदोक्त कर्मों का आचरण करता हुआ विद्वान् अज्ञानियों को भी सत्कर्मों में लगाता रहे॥२५॥

प्रकृतेः क्रियमाणानिगुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ २६ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२७॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तान्कृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥ २८ ॥

अहंकार से आत्मा को भूला हुआ मनुष्य समझता है कि आत्मा ही कर्म करता है वास्तव में सब कर्म प्रकृति के सत्व, रज, तम, गुणों के प्रभाव से किये जाते हैं ॥ २६ ॥ हे महाबाहो ! गुण कर्मों के विभाग का ज्ञाता तत्ववेत्ता पुरुष तो यह जानकर कि सत्वादि गुणों में ही शब्द स्पर्शादि गुण रहते हैं इससे वे प्राकृत भोगों में नहीं फंसते ॥ २७ ॥ प्रकृति के सत्वादि गुणों में आसक्त मूढ़जन शारीरिक भोग की इच्छा से गुण कर्मों में फंसे रहते हैं । पूर्ण ज्ञानी को चाहिये कि उन अज्ञानी मन्द अधिकारियों को उत्तम गुण कर्मों से विचलित न करे ॥ २८ ॥

सदृशंचेष्टतेस्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिंयान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति ॥ २६ ॥

जब ज्ञानवान पुरुष भी प्रकृति के वशीभूत होकर अपनी प्राकृतिक वासनाओं के अनुकूल कर्म * करता है तो साधारण

---

* जब कि भीष्म पितामह द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र आदि ज्ञानी भी भोगों के वश अधर्मियों के साथी हैं तो दुर्योधनादि की तो कथा ही क्या है क्योंकि उक्त विद्वानों ने युधिष्ठिर को यही उत्तर दिया था कि हम तो धन के दास होकर दुर्योधन के साथी हैं ।

अर्थस्यदासः पुरुषो दास स्त्वर्थो न कस्यचित् । इतिमत्वा महाराज बद्धोस्म्यर्थे न कौरवैः ॥ म० भा० भीष्म पर्व

जनों की क्या कथा, क्योंकि वे तो अज्ञानवश सब प्राणी प्रकृति के पीछे चलते हैं उनमें निग्रह क्यों कर हो सकता है ॥२९॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! इन्द्रियां और इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि वि में राग और द्वेष स्थित रहते हैं इन दोनों के वश में तुम जैसे ज्ञानी को न होना चाहिये क्योंकि येही इस आत्माके शत्रु हैं॥३०॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह ॥३१॥

अच्छे प्रकार सेवन किया हुआ भी अन्य वर्ण के धर्म से अपने वर्ण का धर्म न्यूनता होने पर भी श्रेष्ठ है प्रत्येक ब्राह्मणादि वर्णों का अपने २ वर्ण के धर्म में ही मरना कल्याणदाता है परन्तु अन्य वर्ण का धर्म भय दाता है ॥ ३१ ॥

❀ अर्जुनोवाचः ❀

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापंचरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३२॥

अर्जुन बोले कि हे वृष्णिवंशी कृष्ण ! यह मनुष्य किस की आज्ञा से प्रेरित हुआ नहीं चाहता हुआ भी जबरन् जैसे पाप कर्म में लगाया जाता है । और पाप का आचरण करने लगता है

कामएष क्रोधएष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विध्येन मिह वैरिणम् ॥३३॥

धूमेना व्रियते वह्नियथादर्शो मलेन च
यथोल्वेनावृतो गर्भ स्तथा तेनेदमावृतम् ॥३४॥

श्रीकृष्णजी ने कहा कि ये काम क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होने वाले बड़े भोक्ता महा पापों की खान हैं हे अर्जुन ! इन्हीं को तू वैरी जान ॥ ३३ ॥ जैसे धूम से अग्नि और मैल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढक जाता है वैसे ही काम क्रोध से अन्तः-करण ढक जाता है ॥ ३४ ॥

आवृतं ज्ञानमे तेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
काम रूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३५॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धि रस्याधिष्ठान मुच्यते
एतैर्विमोहयत्त्येष ज्ञान मावृत्य देहिनम् ॥३६॥

हे कुन्ती के पुत्र ! भोगों से कभी तृप्त न होने वाले इस काम रूप अग्नि से ज्ञानियों का ज्ञान ढका हुआ है यही वैरी काम नित्य ही ज्ञानियों के वहकाने को उद्यत रहता है ॥ ३५ ॥ इन्द्रियां मन और बुद्धि इस काम के करने के स्थान हैं इन्हीं के द्वार । इस जीवात्मा के ज्ञान को ढांप कर प्राणी को वश में कर लेता है ॥ ३६ ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञान नाशनम्॥३७॥

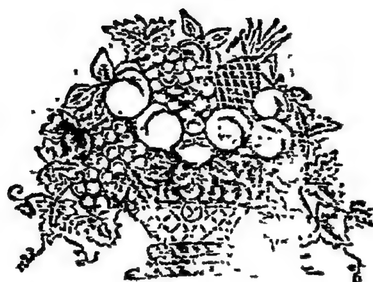
इसलिये हे भरत कुल में श्रेष्ठ प्रथम तुम इन्द्रिय आदि को निग्रह करके ज्ञान विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी काम रूप शत्रु को मार डालो ॥ ३७ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धे बुद्धेर्यः परतस्तु सः ॥३८॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महावाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३९॥

शरीर की अपेक्षा इन्द्रियां सूक्ष्म हैं इन्द्रियों से सूक्ष्म मन है मन से सूक्ष्म बुद्धि है और जो बुद्धि से भी परम सूक्ष्म है वह आत्मा है ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ ३८ ॥ हे महावाहो ! इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा के स्वरूप को जान कर आत्म ज्ञान से आत्मीय मन इन्द्रियादि को वश में करके नीच काम रूप वैरी को मार ॥ ३९ ॥

इति श्री वेदानुगा रत्नसमुच्चय भगवद्गीतायां कृष्णार्जुन
संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थाध्याय

प्रारभ्यते ४



एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१॥

हे अर्जुन ! उक्त प्रकार से जानकर कि पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी कर्म किये हैं और पूर्व से भी अत्यन्त पूर्व अर्थात् आदि सृष्टि से ही सब कर्म करते आये हैं तो तुम भी अपने वर्ण के कर्म करो ॥१॥

किंकर्मकिमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्तेकर्मप्रवक्ष्यामियंज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्॥२॥

हे अर्जुन ! कर्म क्या है और अकर्म क्या इस विषय में पंडित लोग भी भूले हैं मैं उस कर्म को तुझे बताऊंगा जिसको जानकर तू पापों से बच जावेगा ॥२॥

कर्मणोह्यपिवोद्धव्यं वोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्चवोद्धव्यं गहनाकर्मणो गतिः ॥३॥

हे अर्जुन ! कर्म की गति गम्भीर है इसलिये कर्म को भी समझना चाहिये और विकर्म को भी तथा अकर्म को भी समझना चाहिये ॥३॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
सबुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत्॥४॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म अर्थात् ज्ञान को और अकर्म अर्थात् ज्ञान में कर्म को देखता है वही मनुष्य नरों में बुद्धिमान् और योगी तथा ज्ञानपूर्वक सब कर्मों को करने वाला है जो अज्ञान से कर्म करता है वह कर्म करना नहीं जानता और जो ज्ञानी होकर कर्म नहीं करता वह भी अकर्मज्ञ है ॥४॥

यस्यसर्वेसमारम्भाः कामसंकल्प वर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥५॥

जिसके आरम्भ किये हुए सम्पूर्ण कर्म फल की कामना और तृष्णा से रहित हैं और प्रदीप्त ज्ञान की अग्नि से जिसने जन्म मरण के चक्र में फँसाने वाले कर्मों की वासना रूप वीज को भस्म कर दिया है विद्वान् लोग उसीको पंडित कहते हैं ॥५॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्त्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैवकिंचित्करोति सः ॥६॥

जो विद्वान् फलासक्ति को त्याग कर नित्य सन्तुष्ट रहनेवाला और किसी का सहारा न रखने वाला है वह कर्तव्य कर्म को करता हुआ भी फल मिलने की इच्छा से कुछ भी नहीं करता है किन्तु ईश्वर की आज्ञा पालन कर रहा है ॥६॥

निराशीर्यतचित्तात्मात्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलंकर्मकुर्वन्नाप्नोतिकिल्बिषम् ॥७॥

आशा तृष्णा से रहित मन को वश में रखने वाला जिसने सब संग्रह करना छोड़ दिया है वह ईश्वर भक्त शरीर निर्वाह के लिये कर्म करता हुआ भी पाप से नहीं सनता ॥७॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समःसिद्धा व सिद्धौ च कृत्वापि ननिबध्यते॥८॥

आकस्मिक लाभ से प्रसन्न रागद्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित, मत्सरता जिसकी छूट गई है और सिद्धि असिद्धि में एकसा रहने वाला कर्म करता हुआ भी बन्धन में नहीं आता ॥८॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥६॥

संगरहित वेदोक्त ज्ञान से स्थिर चित्त वाले, यज्ञ के लिये कर्म का आचरण करते हुए जीवन मुक्त के समस्त कर्म जन्म मरण रूप फल के उत्पन्न करने वाले नहीं होते ॥९॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यंब्रह्म कर्मसमाधिना॥१०॥

जिस यज्ञ कर्म में वेदोक्त आहवनीय अग्नि में वेदोक्त मन्त्रों से विधि पूर्वक वेदोक्त संस्कृत हवि को परमात्मा की आज्ञा पालन रूप धर्म मान करके निष्काम भाव से समर्पण करता है उस वेदोक्त कर्मसे समाहित चित्त वाले पुरुष को ब्रह्म ही की प्राप्ति होती है ॥१०॥

दैवमेवाऽपरेयज्ञं योगिनः पर्य्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरेयज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥११॥

कोई कर्मेष्ठी देव यज्ञ की उपासना करते हैं और कोई विवेकी ब्रह्म यज्ञ रूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा अपने आत्मा को समर्पण करते हैं ॥११॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥१२॥

कोई ज्ञानी श्रोत्र आदि इन्द्रियों का संयम रूप अग्नि में होम करते हैं और कोई दूसरे शब्द स्पर्शादि विषयों का इन्द्रियों रूपी अग्नि में होम करते हैं ॥१२॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥१३॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञायोगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥१४॥

अन्य कोई महात्मा सब इन्द्रियों के दर्शन स्पर्शन श्रवणादि कर्म और प्राण अपानादि के उत्क्षेपणादि कर्मों को ज्ञान रूप वायु से प्रज्वलित आत्मसंयम रूपयोगाग्नि में हवन करते हैं ॥१३॥ कोई घृतादि द्रव्यों से अग्निहोत्रादि यज्ञों का सेवन करते हैं और कोई चान्द्रायणादि व्रतों से तप यज्ञ और कोई अष्टांग योग यज्ञ का अभ्यास और कोई श्रेष्ठ व्रत धारी वेदों का स्वाध्याय रूप यज्ञ और दूसरे कोई ब्रह्मज्ञान रूपी यज्ञ में रमण करते हैं ॥१४॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगतीरुध्वा प्राणायाम परायणा ॥१५॥

अपरे नियता हाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदोयज्ञक्षयित कल्मषाः॥१६॥

कोई प्राणयाम में कुशल मुनि प्राण और अपान की गति को रोककर अपान में प्राणका और प्राण में अपान का हवन करते हैं ।१५।कोई नियताहारी होकर प्राणों को प्राणों ही में हवन करते हैं ये उक्त सभी महात्मा यज्ञों से पापों का नाश करने वाले यज्ञ विद्या के ज्ञाता हैं ॥ १६ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य:कुरुसत्तम्॥१७॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धितान्सर्वा नेवंज्ञात्वाविमोक्ष्यसे।१८।

हे कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञ से बचे हुये शेष अमृत का भोजन करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं परन्तु यज्ञ न करने वाले का जब यह लोक ही नहीं सुधरता तो परलोक की तो कथा ही क्या ॥१७॥ इस प्रकार वेद वाणी में बहुत प्रकार के यज्ञों का विस्तार है उन सब यज्ञों को तुम कर्म ही से हुये जानो ऐसे यज्ञों के तत्व को जान कर कर्म के द्वारा आप मुक्त हो जाओगे ॥१७॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परंतप ।
सर्वंकर्माखिलंपार्थ ज्ञानेपरिसमाप्यते ॥१९॥

हे शत्रुतापी ! घृतादि द्रव्यों से साध्य अग्नि होत्रादि यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है । हे पार्थ ! सम्पूर्ण क्रियमाण संचित प्रारब्ध कर्म ब्रह्म ज्ञान होते ही समाप्त होजाते हैं ॥१९॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्तिते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन: ॥२०॥

उस ज्ञानयज्ञ को नम्रता नमस्कार के द्वारा और श्रद्धापूर्वक सेवा से योगी पुरुषों से पूछो वे महात्मा तत्वदर्शी विज्ञानी आप जैसे जिज्ञासु को उपदेश करेंगे ॥२०॥

अपिचेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥२१॥

हे अर्जुन ! चाहे आप सब पापियों से भी अधिकतर पापी होओ तो भी ब्रह्मज्ञान रूपी नाव के द्वारा सब पापों से तरजाओगे ॥२१॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेर्जुन ।
ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥२२॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति॥२३॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रदीप्त अग्नि गीले इन्धन को भी जला देता है वैसे ही ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि सब पाप कर्मों को भस्म कर देता है ॥२२॥ ब्रह्मज्ञान के समान कोई भी वस्तु इस संसार में पवित्र नहीं है उस ब्रह्मज्ञान को योगाभ्यास से प्राप्त हुआ पुरुष समय पाकर स्वयं अपने आत्मा में प्रत्यक्ष करता है ॥२३॥

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परांशान्ति मचिरेणाऽधिगच्छति॥२४॥
अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्माविनश्यति ।
नाऽयंलोकोऽस्ति न परोनसुखं संशयात्मनः॥२५॥

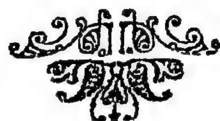
शास्त्रों में श्रद्धा रखने वाला जितेन्द्री ध्यान योग में तत्पर पुरुष को ब्रह्मज्ञान होता है। वह ब्रह्मज्ञान को पाकर शीघ्र ही अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होजाता है परन्तु अज्ञानी अश्रद्धालु संशय से युक्त पुरुष नाश को प्राप्त होता है उसको न इस जन्म में और न परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलता ॥२५॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥२६

तस्मादज्ञान सम्भूतं हृत्स्थंज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥२७

हे धनंजय ! योग बल से दूर किये हैं दुर्वासनादि युक्त कर्म जिसने और ब्रह्मज्ञान से छेदन किये हैं सर्वसंशय जिसने ऐसे शुद्धान्तःकरण वाले पुरुष को योग युक्त कर्म बन्धन में नहीं डालते ॥२६॥ इसलिये हे भारत ! अज्ञान से उत्पन्न हुये हृदय में स्थित इस संशय को ब्रह्मज्ञान रूपी तीक्ष्ण खड्ग से छेदन करके कर्म योग में स्थित हो और युद्ध के लिये उठ खड़ा हो ॥२७॥

इति श्री कृष्णार्जुनसंवादेब्रह्मविद्यायांज्ञान
विभागयोगोनामचतुर्थोऽध्यायः ॥४॥



अथ पंचमोऽध्याय ५

❁ अर्जुनोवाच ❁

संन्यासंकर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहिसुनिश्चितम्॥१॥

अर्जुन ने कहा कि हे कृष्ण ! आप कर्मों के त्याग का भी उपदेश देते हैं और फिर कर्म योग की प्रशंसा भी करते हैं अतः उन दोनों में से जो मेरे लिये कल्याण करने वाला हो उसी को निश्चय करके मुझको उपदेश कीजिये ॥ १ ॥

❁ श्री कृष्णोवाच ❁

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगोविशिष्यते ॥२॥

श्रीकृष्ण जी ने कहा कि हे अर्जुन ! संन्यास (कर्मों का त्याग) और कर्म योग दोनों ही कल्याण करने वाले हैं परन्तु उक्त दोनों में से कर्म योग की विशेषता है ॥ २ ॥

ज्ञेयः सनित्यसन्यासी यो नद्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वोहि महाबाहो सुखंबन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो न द्वेष करता है न किसी की इच्छा करता है जो शीतोष्णादि द्वन्द्वों से रहित है हे महाबाहो ! वह सुख पूर्वक बन्धन से छूट जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

अज्ञानी लोग ज्ञान और कर्म योग को जो अलग २ कहते हैं वे मूर्ख हैं किन्तु विद्वान् लोग ऐसा नहीं कहते। क्योंकि इन दोनों में से एक का भी सेवन करने से दोनों के फल को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ क्योंकि जो ज्ञान योग से जिस मुक्ति फल की प्राप्ति होती है वही कर्म योग से भी प्राप्त होती है अतः जो ज्ञान कांड और कर्म कांड दोनों के अभिप्राय को एक ही समझते हैं वे ही ठीक समझने वाले हैं ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाऽधिगच्छति ॥६॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि लिप्यते ॥७॥

हे महाबाहो ! ज्ञानी पुरुष योगाभ्यास के बिना दुःख को प्राप्त होता है परन्तु योगाभ्यास से युक्त मुनी शीघ्रता से ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥६॥ जो अष्टांग योग से युक्त शुद्धांतः करण वाला जितेन्द्री शरीर और मन को वश में रखने वाला है और सम्पूर्ण प्राणियों में प्रसिद्ध तेजस्वी आत्मा है वह कर्म करता हुआ भी कर्म फल के बन्धन में नही फंसता है।

नैवकिंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्
८॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषुवर्त्तन्तइतिधारयन्॥

तत्ववेत्तायोगी पुरुष देखना, सुनना, सूंघना, खाना, चलना, बोलना, मल त्यागना वस्तु का गृहण करना आंखों का खोलना मीचना आदि कर्मों को यह जान कर कि ये सब इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म हैं इनको धारण करता हुआ भी मैं अपने स्वार्थ के लिये कुछ भी नहीं करता हूं ऐसा जाने ॥८॥ ९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणिसंगंत्यक्त्वाकरोति यः।
लिप्यते न सपापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

कायेन मनसा बुध्या केवलै रिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति संगंत्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥११॥

वेदोक्त कर्मों को ईश्वरीय आज्ञा पालन मात्र में स्थित कर कर्मफल भोग वासना को त्याग करके जो कर्म करता है वह जन्म मरण के दाता कर्म फलों से ऐसे नहीं फंसता जैसे कमल पत्र जल से ॥१०॥ योगी लोग फल भोग की इच्छा को त्याग कर शरीर मन बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा वेदोक्त कर्म केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिये करते हैं ॥११॥

युक्तः कर्मफलंत्यक्त्वा शान्तिमाप्नोतिनैष्ठिकीम्।
अयुक्तःकामकारेण फलेसक्तोनिबध्यते ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखंवशी।
नवद्वारे पुरेदेही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

अध्यात्म विचार में तत्पर योगी कर्म फल भोग की वासना को त्याग कर मुक्ति सम्बन्धी असीमशान्ति को प्राप्त होता है और बाह्य भोगों में तत्पर विषय भोग की तृष्णा से फल की प्राप्ति में फंसा हुआ मनुष्य जन्म मरण के बन्धन में पड़ा रहता है ॥१२॥ मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाला विवेकी फल भोग की इच्छा से न कुछ स्वयं करता है न कराता है किन्तु निष्काम हुआ नवद्वार वाले देह में सुख से विश्राम करता है ॥१३॥

न कर्तृत्वंनकर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥
नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैवसुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्तिजन्तवः॥१५॥

यह जीवात्मा इन कर्मों का कर्त्ता हो और मेरा दिया हुआ यह २ फल पावे ऐसी इच्छा से परमात्मा लोकों को नहीं रचता है और नहीं इस इच्छासे रचता है कि कर्म फलों से इस २ योनी में जावें किन्तु जीवात्मा लोग अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता से कर्मों प्रवृत्त होते हैं परमात्मा न तो किसी के पाप को आप लेकर क्षमा करते हैं और न किसी के पुण्य को छीन कर नर्क में डालते हैं किन्तु अविद्या से आत्म ज्ञान ढका हुआ है इसी से मोहित हुए लोग ईश्वर पर दोषा रोप करते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषा मादित्य वज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

परन्तु जिन पुरुषों ने अपने अज्ञान को ब्रह्म ज्ञान से नष्ट कर दिया है उनको ब्रह्म ज्ञान सूर्य्य के समान उस परमेश्वर का प्रकाश कर देता है ॥ १६ ॥ उस परमेश्वर ही में मन बुद्धि और आत्मा को लगाने वाले और उसी के ध्यान में तत्पर वही एक आश्रय है जिनका और ब्रह्म ज्ञान से धो डाले हैं सब पाप जिन्होंने, वे फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं आते ॥ १७ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १७ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण और गाय, हाथी, स्वान तथा चांडाल में एक समान जीवात्माओं की स्थिति देखकर पंडित लोग समदर्शी होते हैं ॥ १८ ॥ जिनका मन समता में स्थित है उन्होंने इसी जन्ममें आवागमन रूप संसारको जीत लिया क्योंकि जैसे ब्रह्म निर्दोष समदर्शी है उसके अनुगामी भी वैसे ही समता में स्थित होने से ब्रह्म में स्थित पाते हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाऽप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

जो प्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर हर्ष न करे और अप्रिय के प्राप्त होने पर घबरावे नहीं वह अज्ञान से रहित ब्रह्म का ज्ञाता अचल बुद्धि वाला ब्रह्मानन्द में स्थित होता है ॥२०॥

बाहर के भोगों में मन को न फंसाने वाले ब्रह्मवित् के आत्मा में जो आनन्द होता है उस अक्षय सुख को ब्रह्म योग से युक्त आत्मा ही पाता है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

हे कुन्ती पुत्र ! जो विषयेन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न भोग हैं वेही आदि अन्त वाले और काम क्रोधादि के पैदा करने वाले होने से दुःखों की योनी हैं, अतः विवेकी पुरुष उन में नहीं फंसते हैं ॥२२॥ जो नर मृत्यु होने से पूर्व ही शरीरान्त तक काम क्रोधों के वेगों को जीत लेते हैं वेही संयमी अत्यन्त सुखी होते हैं ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।२४।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण मृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ॥२५॥

जिसके शरीर के अन्दर का आत्मा सुखी है और अन्दर ही आत्मवृत्ति में विश्राम है तथा बाहर वृत्ति रोकी हुई होने से अन्दर ही ब्रह्म ज्ञान की ज्योति का प्रकाश है वह योगी ब्रह्मानन्द में स्थित

शान्त स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥२४॥ सब प्राणियों के हित करने में तत्पर और सब दुर्वासनादि कुत्सित पापों से रहित निश्चित वृत्ति वाले ऋषि लोग शान्ति स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसां ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥२६॥
स्पर्शान्कृत्वाबहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवाऽन्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदामुक्त एवसः।२७।

काम क्रोध से अलग मन के जीतने वाले आत्म ज्ञानी यती लोगों को सब ओर ब्रह्म ही दृष्ट आता है ॥२६॥ बाहर के रूप आदि विषयों को बाहर ही छोड़ कर दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में लगा कर पुनः नासिका के अन्दर आने जाने वाले प्राण और अपान को एक समता में स्थिर करके ॥२७॥

इन्द्रियों और मन को वश में करने वाला मोक्ष मार्ग में लगा हुआ, इच्छा, भय, और क्रोध से रहित जो मुनि है वह सदा ही मुक्त है ॥२८॥

इति श्री वेदानुगा भगवद्गीतायां
ब्रह्मविद्यायां कृष्णार्जुन संवादे
नाम पंचमोऽध्याय ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रारम्यते ॥ ६ ॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
ससन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः ॥ १ ॥

यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

श्री कृष्ण ने कहा कि जो पुरुष कर्म फल की इच्छा को छोड़ कर वेदोक्त कर्मों को करता है वही संन्यासी और वही योगी है न तो याज्ञिक अग्नि को छोड़ने वाला और नाहीं वेदोक्त कर्मों का त्यागी संन्यासी है हे पांडव! जिसको संन्यास कहते हैं उसीको तुम योग जानो क्योंकि जिसने संकल्प को नहीं छोड़ा वह कभी योगी नहीं हो सकता ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म स्वनुषज्जते ॥ ३ ॥
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

योगाभ्यास में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मुनी की इष्ट सिद्धि का कारण वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान कहा है और योग में प्रवेश हो जाने पर उसी कर्म को मोक्ष प्राप्ति के लिये शान्ति का

कारण कहा है जब योगी इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि और कर्म फलों की इच्छा में नहीं फंसता तो वह तब सब संकल्पों का त्याग ने वाला संन्यासी योगारूढ़ कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मान मवसादयेत्।
आत्मैवह्यात्मनोबन्धुरात्मै वरिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः
अनात्मनस्तुशत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैवशत्रुवत् ॥६॥

अपने आप ही अपना उद्धार करे अपने आत्मा को अवनति में न गिरावे क्योंकि अपना आत्मा हीं अपना बन्धु है और आत्मा ही शत्रु है ॥ ५ ॥ जिसने आत्मा से मन को जीत लिया उसके आत्म का मन रक्षक है परन्तु जिसने मन को न जीत कर शत्रुता की उसके साथ मन सदा शत्रुता का वर्ताव करेगा ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथामानापमानयोः ॥७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्माकूटस्थोविजितेन्द्रियः।
युक्तइत्युच्यतेयोगीसमलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

मन को वश में करने वाले शान्तिमान पुरुष का महान् आत्मा, शीत गरमी सुख दुःख और मान अपमान में विशेषकर व्याकुलता रहित स्थिर रहता है ॥ ७ ॥ वेदोक्त ज्ञान विज्ञान से आत्मा को सन्तुष्ट रखने वाला; स्थिर चित्त, जितेन्द्रिय निर्विकार चित्त वाला, मिट्टी और पाषाण में सम दृष्टि रखने वाला योगी योग युक्त होता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

शुभचिन्तक, मित्र, शत्रु, उदासीन, बिचोलिया, द्वेषी, भाई, साधु और पापी इन सब में जो सम बुद्धि रखता है वही विशेष योगी है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सतत मात्मानं रहसिस्थितः ।
एकाकीयतचित्तात्मानिराशी रपरिग्रहः ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासन मात्मनः ।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वाय तचित्तेन्द्रिय क्रियः ।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्म विशुद्धये॥१२॥

अकेला एकान्त में मन को वश में करके आशा को त्याग कर बन्धनों से रहित हुआ योगी निरन्तरता से आत्मा को योग में लगावे, शुद्ध जल वायु से युक्त देश में स्थिरता से आसन लगा कर जो न अति ऊंचा हो न बहुत नीचा हो किन्तु सम हो नीचे कुशा का उसके ऊपर मृगचर्म उसके ऊपर वस्त्र बिछावे उस आसन पर बैठ कर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों को बाह्य वृत्ति से रोक कर आत्म शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः ।
संप्रेक्ष्यनासिकाग्रंस्वंदिशश्चाऽनवलोकयन् ॥१३॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः ।
प्रशान्तात्माविगतभीर्योगी नियत मानसः ॥१४॥

शरीर, शिर और गर्दन को सीधा और अचल रख कर नासिका के अग्रभाग में अन्दर ही दृष्टि रक्खे और वहां से हटा कर अन्य दिशाओं में न देखे आत्मा में शान्ति को धारण कर भय से रहित ब्रह्मचर्य्य के व्रत में स्थित हो योगी एकाग्र मन से सदा आत्मा को परमात्मा में ही लगावे ॥ १४ ॥

नात्यश्नतस्तुयोगोस्तिनचैकान्तमनश्नतः ।
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतोनैवचाऽर्जुन॥१५॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगोभवतिदुःखहा ॥१६॥

हे अर्जुन ! अत्यन्त सोने वाले को, अत्यन्त जागने वाले और अधिक खाने वाले अथवा बिलकुल न खाने वाले को योग की सिद्धि नहीं होती ॥ १४ ॥ किन्तु युक्त आहार विहार वाले और नियत समय पर नियमानुकूल कर्त्तव्य कर्म करने वाले तथा नियत समय पर सोने नियत समय पर जागने वाले को योग सब दुःखों का नाशक होता है ॥ १५ ॥

यदाविनियतंचित्त मात्मन्ये वाऽवतिष्ठते ।
निस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्तइत्युच्यतेतदा ॥१७॥
यथादीपोनिवातस्थोनेङ्गते सोपमास्मृता ।
योगिनोयतचित्तस्य युञ्जतोयोगमात्मनः ॥१८॥

जब कि वश में किया हुआ चित्त आत्मा में ही स्थिर हो जाता है और सब तृष्णाओं से रहित हो जाता है तब उसको युक्त कहा जाता है ॥ १७ ॥ जैसे वायु से रहित स्थान में रक्खे हुये दीपक की शिखा अचल हुई सीधी खड़ी रहती है वैसे ही योग में आत्मा को जोड़ने वाले योगी के चित्त को दीप शिखा सम उपमा है ॥ १८ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया ।
यत्रचैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥१६॥
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रयम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२०॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितोनदुःखेनगुरुणापिविचाल्यते॥२१॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगंवियोगंयोगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेनयोक्तव्यो योगोनिर्विण्णचेतसा॥२२॥

जिस दशा में कि योग सेवन से वश में हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो जाता है उस दशा में आत्मा में परमात्मा को देखता हुआ आत्मा में सन्तुष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥ जिस अवस्था में यह पुरुष उस सुख को जो कि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु बुद्धि ही से ग्रहण होता है अनुभव करता है और तत्व से चलायमान नहीं होता ॥ २० ॥ उस सुख को पाकर उस से अधिक लाभ दूसरा नहीं मानता तथा उसी योगानन्द में स्थिर हुआ दुःख के बड़े भारी पहाड़ गिरने पर भी विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥ इसलिये उस अवस्था विशेष समाधि को दुःखों से

हटाने वाली योग संज्ञा को योगी जाने जिस को विरक्त चित्त से योगी निश्चित वृत्ति के द्वारा सेवन करे ॥ २२ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥२३॥

शनैः शनैः रुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वानकिंचिदपि चिन्तयेत्॥२४॥

मानस संकल्प से उत्पन्न होने वाली कामनाओं को त्याग कर विषयों की तरफ दौड़ने वाली इन्द्रियों को सब ओर से रोक कर मन ही के वश में रक्खे धैर्य्य से धीरे २ विषयों से उपराम हो बुद्धि द्वारा आत्मा में मन को स्थिर करके निश्चिन्त हो ईश्वर में लवलीन होवे ॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चंचलमस्थिरम्
ततस्ततोनियम्यैतदात्मन्येववशं नयेत् ॥ २५ ॥

प्रशान्तमनसाह्य नं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैतिशान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २६॥

स्थिर न रहने वाला चंचल मन जिस जिस विषय की ओर दौड़े उधर २ से रोक कर आत्मा के वश में करे ॥ २५ ॥ वशी-भूत मनका रजोगुण छिन्न होने पर सत्व शान्ति को प्राप्त हुआ निष्पाप शुद्ध हो ब्रह्मानन्द में मगन मन से योगी को सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

युंजन्नेवं सदाऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २७ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२८॥

इस प्रकार सदा विना नागा अपने आत्मा को समाधि में लगाता हुआ निष्पाप योगी पुरुष परमात्मा के साक्षात्कार रूप अत्यन्त सुख को भोगता है ॥ २७ ॥ परमात्मा के साक्षात्कार होने पर वह योग युक्त पुरुष सब प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा में सब प्राणियों को समदर्शी हुआ देखता है ॥ २८ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥२९॥

हे अर्जुन ! जो सब प्राणियों में अपने आत्मा के समान सुख और दुःखों को देखता है वही योगी श्रेष्ठमाना गया है॥२९॥

❀ अर्जुनावाच ❀

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहंनपश्यामिचंचलत्वात्स्थितिंस्थिरां ॥३०॥
चंचलंहिमनः कृष्ण प्रमाथीबलवद्दृढम् ।
तस्याहंनिग्रहंमन्ये वायोरिवसुदुष्करम् ॥ ३१ ॥

अर्जुन बोले कि हे मधुसूदन ! जो यह योग विद्या आपने समता से युक्त कही है सो मन के चंचल होने से उसकी स्थिर स्थिति को मैं नहीं देख सकता हूं ॥ ३० ॥ हे कृष्ण ! यह मन अति चपल क्रिया शील इन्द्रियों को क्षोभित करने वाला उपाय करने पर भी विषयों की तरफ जाने से न रुकने वाला दृढ़ता से विषयों में जकड़ा हुआ है आकाश में वायु के समान दौड़ने वाले मन के वेग को रोकना मैं अत्यन्त कठिन मानता हूं ॥३१॥

❀ कृष्णोवाच ❀

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३२॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मेमतिः ।
वश्यात्मनातु यतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३३ ॥

कृष्णजी बोले हे महावाहो ! अर्जुन निस्सन्देह यह चंचल मन वश में करना अति कठिन है परन्तु तौ भी हे कुन्ती पुत्र योगाभ्यास और वैराग्य से मनुष्य मन को वश में कर सकता है ॥ ३२ ॥ यद्यपि यह मैं मानता हूं कि असंयमी को योग की प्राप्ति अति कठिन है परन्तु संयमी पुरुष तो यत्न करने पर योग की प्राप्ति अवश्य कर सकता है ॥ ३२ ॥

(अर्जुनोवाच)

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्ययोगसंसिद्धिं कांगतिंकृष्णगच्छति॥३४॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिवनश्यति ।
अप्रतिष्ठो महावाहो विमूढोब्रह्मणःपथि ॥३५॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्तानह्युपपद्यते ॥३६ ॥

अर्जुन ने पुनः कहा कि हे कृष्ण जी ! प्रथम योगाभ्यास में जिसका मन लगा हुआ था फिर किसी विषय वासना से चलायमान होकर असंयमी हो गया परन्तु तो भी उसका प्रेम योग में

अवश्य है ऐसा पुरुष योग की सिद्धि को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ हे महाबाहो ! कर्म योग और ज्ञान योग दोनों से गिरा हुआ ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग से भूला हुआ छिन्न हुए मेघों की तरह कहीं नष्ट तो नहीं हो जाता ॥ ३५ ॥ हे कृष्ण ! इस मेरे संशय का छेदन करने वाला आप से अन्य कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता है अतः आप ही इसको उत्तमता से निर्मूल करने योग्य हैं ॥ ३६ ॥

❋ कृष्णोवाच ❋

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्यविद्यते ।
नहिकल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिंतातगच्छति॥३७॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वाशाश्वती समाः ।
शुचीनांश्रीमतांगेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥३८॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥३९॥

कृष्ण जी बोले कि हे पार्थ ! उस योग भ्रष्ट का इस लोक वा परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता,हे तात ! उत्तम कर्म करने वाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ॥ ३७ ॥ किन्तु योग-भ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके पुनः पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेता है ॥ ३८ ॥ अथवा बुद्धिमान् योगियों ही के कुल में उत्पन्न होता है । जो कि संसार में ऐसा जन्म मिलना दुर्लभ है ॥ ३९ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४० ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४१ ॥

हे कुरुनन्दन ! वहां योगी कुल में उत्पन्न हुआ वह पूर्व देह वाली योग सम्बन्धी बुद्धि को स्मरण कर फिर भी योग सिद्धि के यत्न में लग जाता है ॥ ४० ॥ तदनन्तर अधिकतर योग सिद्धि के लिए यत्न करता है और उसी पूर्वाभ्यास के संस्कार बल से ऐश्वर्य्य भोग के वश में न होकर योग का जिज्ञासु होकर वाचक ज्ञान को उलंघन कर साक्षात् वाच्य का अनुभव करता है ॥ ४१ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततोयाति परांगतिम् ॥ ४२ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४३ ॥

प्रयत्न पूर्वक उपाय करता हुआ जब योगी पाप रहित शुद्ध स्वरूप हो जाता है तब अनेक जन्मों में योग की सिद्धि को प्राप्त होकर परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥ कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप करने वाले और शास्त्रों के तत्ववेत्ता ज्ञानी तथा इष्टपूर्त कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले इन सबसे योगी पुरुष अत्यन्त श्रेष्ठ है इस लिये हे अर्जुन ! आप भी मोह त्याग कर युद्ध रूप यज्ञ में योगी बनो ॥ ४३ ॥

इति श्री वेदानुगा गीतायां कृष्णार्जुन सम्वादेषष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

❀ अर्जुनोवाच ❀

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण ! वह ब्रह्म क्या वस्तु है और अध्यात्म क्या है तथा कर्म क्या है और अधिभूत क्या है और अधिदैव क्या कहाता है ॥१॥

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥२॥

श्रीकृष्णजी उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन ! जो अविनाशी और सबसे परे है वह ब्रह्म है और जो स्वसत्ता से अधिष्ठाता होकर देह में रहने वाला जो जीवात्मा है वही अध्यात्म है और प्राणियों की उत्पत्ति और सुखोन्नति करने वाला तथा अग्नि में त्याग रूप से जो आहुति दी जाती हैं ऐसा यज्ञ ही कर्म संज्ञक है। और उत्पन्न होकर नष्ट होने वाला शरीर ही अधिभूत है। और अग्नि वायु सूर्यादि देवताओं में जो पुरुषत्व है वही अधिदैव है ॥ २ ॥

अभ्यासयोग युक्तेन चेतसा नान्य गामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ३॥

हे पृथा के पुत्र ! मनुष्य अभ्यास योग से युक्त किसी विषय की ओर न जाने वाले चित्त से सबसे परे दिव्य पुरुष परमात्मा की भक्ति करता हुआ उसीको प्राप्त हो जाता है ॥३॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥४॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव । भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् । स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥५॥

सर्वज्ञ, वेद के प्रकाशक, सबका शासक, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, प्राचीन, सबका धाता अचिन्त्यरूप, अविनाशी, अज्ञानान्धकार से रहित परब्रह्म को मरते समय पर अचल मन से और भक्ति योग के बल से दोनों भौंहों के बीच में अच्छी तरह से प्राणों को आकर्षण कर जो स्मरण करे तो वह भक्त पुरुष उस परम दिव्य परमात्मा को प्राप्त हो मुक्ति सुख भोगता है ॥४॥५॥

सहस्रयुगपर्य्यन्त महर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तांतेऽहोरात्रविदोजनाः ॥६॥

यदक्षरं ब्रह्मविदोवदन्ति विशन्तियद्यतयोवीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति । तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥७॥

वेद के जानने वाले जिस अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म (ओम्) का उपदेश करते हैं। वीत राग होकर यती लोग

जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते हैं उस पद (ॐ ३) तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं ॥६ ७॥

सर्व द्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण मास्थितो योगधारणाम् ८॥

इन्द्रियों के सब द्वारों को संयम से बन्द कर और मन का विरोध करके एवं मूर्धास्थान में प्राण की गति को स्थिर कर योग की धारणा से आत्मा को परमात्मा में लगावे ॥८॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यह रागमे ।
राज्यागमेप्रलीयन्ते तत्रैवा व्यक्त संज्ञके ॥६॥

जो हजार युग पर्यन्त एक कल्प का ब्रह्म का एक दिन जानते हैं और जो हजार युगों की रात्रि को भी जानते हैं वेही ब्रह्म के एक अहोरात्र को जानने वाले होते हैं ब्रह्म के दिनसारम्भ अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में सम्पूर्ण चर और अचर भूत अव्यक्त अर्थात प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और प्रलय रूप रात्रि के आने पर सब स्थूल जगत् उसी में लीन हो जाता है ॥६॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१०॥
परस्तस्मात्तुभावोन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः
यःससर्वेषुभूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥११॥

हे पार्थ ! वही चराचर प्राणी वा जड़ समुदाय बार २ उत्पन्न हो कर प्रलय आने पर प्रकृति में लीन हुआ करता है और वही जगत् उत्पत्ति समय के आने पर बार २ उत्पन्न होता है ॥१०॥

परन्तु उस अव्यक्त प्रकृति से भी परें महान् सूक्ष्म सनातन अपनी सत्ता से वर्त्तमान चराचर जगत् के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता वह जीव और प्रकृति से भिन्न है ॥११॥

पुरुषः सपरः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येनसर्वमिदंततम् ॥१२॥

हे पार्थ ! जो प्रकृति और जीवों से परें है और जिस के आधार में सब भूत स्थित रहते हैं और जिसने इस सारे जगत् को उत्पन्न करके विस्तृत किया है वह परंब्रह्म अत्यन्त श्रद्धा भक्ति से प्राप्त होने योग्य है ।

यत्र काले त्वना वृत्ति मावृत्तिंचैव योगिनः ।
प्रयातायान्तितं कालंवदयामि भरतर्षभ॥१३॥

अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लःपराम्मासा उत्तरायणम् ।
तत्रप्रयातागच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः ॥१४॥

हे भरत कुल में श्रेष्ठ अर्जुन जिस काल में मर कर योगी अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं अब उस काल को आपके प्रति कहूंगा ॥१३॥अग्नि,प्रकाश, दिवस, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण ये सब अर्चिरादि मार्ग के अन्दर हैं अतः अर्चिरादि मार्ग से जो उपासक योगी जाते हैं वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ।

(द्वेस्रुती अश्रृणवम् देवाना मुतमर्त्यानाम्)

(ऋक् ८। ४ ।१२)

(पितरः कर्मिणः देवाः उपासकाः)

अतः अर्चिरादि मार्ग से उपासक योगी लोग ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और कर्मेष्ठी पितृ लोग पृथिवी पर जन्म लेते हैं। उपासक लोगों की इस कल्प में आवृत्ति अर्थात् लौटना नहीं होता और धूमादि मार्ग से जाने वाले कर्मेष्ठी पितर लोग पुनर्जन्म में तत्काल आते हैं।

धूमोरात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासादक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसंज्योति र्योगीप्राप्य निवर्त्तते ॥१५॥

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वतेमते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥१६॥

धूमरात्रि कृष्णपक्ष और छः मास दक्षिणायन की नाईं जिस में प्रकाश और तम मिश्रित है ऐसे सकाम कर्मकाण्ड में देह त्याग ने वाले योगी चन्द्र अर्थात् पितृलोक में जन्म लेते हैं ॥१५॥ इस प्रकार कर्मेष्ठी और उपासक, पितर और देवों के लिये जगत् में दो ही मार्ग हैं पितृ यान, और देवयान, इनमें से एक से पुनरावृत्ति और दूसरे से मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु पापी जनों के लिये उक्तयान नहीं हैं ॥१६॥

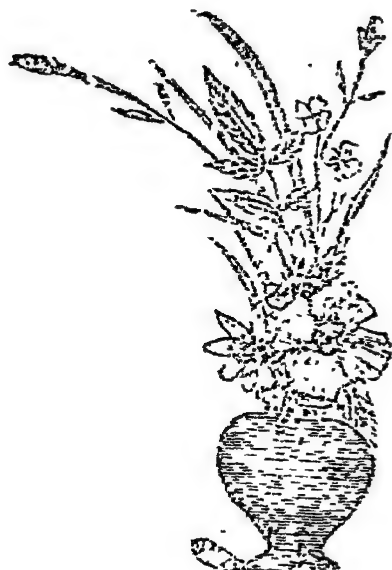
नैतेसृती पार्थ जानन् योगीमुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥१७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्य फलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थान मुपैति चाद्यम् ॥१८॥

हे पार्थ उक्त दोनों पितृ यान और देव यान गतियों को जानता हुआ योगी कभी भी अज्ञान में नहीं फंसता इसलिये हे अर्जुन! आप भी युद्ध रूप यज्ञ के लिये हर वक्त योगी हो ॥१७॥ क्योंकि वेदों के स्वाध्याय और अग्निहोत्रादि यज्ञों के करने में और मन इन्द्रियों को दमन करने, और दान धर्म के अनुष्ठान में जिस फल की प्राप्ति शास्त्र में कही है इन सबको जान कर योगी उस फल की इच्छा को त्याग कर उत्तम स्थिर सुख मोक्ष को प्राप्त होता है ॥१८

इति श्री कृष्णार्जुन संवादे वेदानुगा गीतायां

सप्तमोध्यायः



अथाष्टमोऽध्याय:

❋ अर्जुनोवाच ❋

प्रकृतिं पुरुषंचैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ मेवच ।
एतद्वेदितु मिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव १॥

पुनः अर्जुन बोले कि हे केशव ! अब मैं जगत् के उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण पुरुष को और क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान, और ज्ञेय इन पदार्थों को जानना चाहता हूं सो कृपा करके इनकी व्याख्या कीजिये ॥१॥

इदंशरीर कौन्तेय क्षेत्र मित्य भिधीयते ।
एतद्योवेत्तितं प्राहुःक्षेत्रज्ञइतितद्विदः ॥२

हे कौन्तेय ! यह सुख दुःख भोगों का स्थान मनुष्यादि का शरीर क्षेत्र कहाता है और जो इस क्षेत्र को अपना शरीर जानता है उस जीवात्मा को विद्वान् लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥२॥

तत्क्षेत्रं यच्चयादृक्चयद्वि कारियतश्चयत् ।
सचयोयत्प्र भावश्चतत्स मासेन मेश्रृणु ॥३

वह शरीर जो जड़ और जैसे स्वरूप वाला और जिन २ विकारों से युक्त और जिस संयोग से उत्पन्न स्थावर जंगमादि नामक नाना जाति वाला है उसको संक्षेप से सुनिये ॥३॥

ऋषिभिर्बहुधागीतं छन्दो भिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्म सूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भि र्विनिश्चितैः ॥४

मनु आदि ऋषियों और वेदों ने तथा ब्रह्म सूत्र वा वेदान्त दर्शन के पदों के द्वारा हेतुओं के सहित निश्चित बुद्धि से उस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को नाना प्रकार से गायन तथा वर्णन किया है। ॥४॥

महा भूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्त एवच।
इन्द्रियाणिदशैकंच पंचचेन्द्रिय गोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषःसुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम् ॥ ६ ॥

पांच महा भूतों का संघात और अहंकार तथा बुद्धि ये प्रकृति के विकार और ११ इन्द्रियां तथा उनके शब्द स्पर्शादि ११ विषय ये भी प्रकृति के विकार हैं ५ और इच्छा, द्वेष सुख, संघात चेतना, धारणाये क्षेत्रज्ञ के गुण क्षेत्र में विकसित हो रहे हैं यह संक्षेप से क्षेत्र का वर्णन विकारों सहित कहा गया।

अमानित्वमदम्भित्व महिंसाक्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनंशौचस्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषुवैराग्य मनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जन संसदि।
अध्यात्म ज्ञाननित्यत्वंतत्वज्ञानार्थ दर्शनम् ॥१०॥
एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानंयदतोऽन्यथा।
ज्ञेयंयत्तत्प्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥११॥

आदर की इच्छा न करना, दम्भ न करना, किसी को न सताना, शान्ति शीलता, कोमल स्वभाव, गुरु आप्तों की सेवा करना, बाह्य और आभ्यन्तर स्नानादि और रागद्वेषादि के त्याग से शुद्ध रहना, स्थिर बुद्धि और शरीर इन्द्रियों को वश में रखना ॥ ७ ॥ इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि अर्थों से वैराग्य, अभिमान का त्याग, जन्म, मृत्यु बुढ़ापा, और शारीरिक रोग, इनमें दुःखादि दोषों का विचार ॥ ८ ॥ पुत्र स्त्री गृहादि के अनुराग में न फंसना, और इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में सदा समान चित्त रखना ॥९॥ सदा शुद्ध जल वायु से युक्त स्थान का सेवन करना और मनुष्य समुदाय से अलग एकाकी रहना आत्मा और परमात्मा के ज्ञान में तत्पर रहना तत्व ज्ञान के अर्थ जानने का प्रयत्न करना ॥१०॥ यह ज्ञान आप को बतलाया हे अर्जुन ! इससे उलटा सब अज्ञान ही जानना। इससे आगे अब ज्ञेय का वर्णन करेंगे जिस को जान कर मनुष्य मुक्ति का सुख भोगता है ॥११॥

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।
सर्वतः पाणिपादं सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम् ॥१२॥

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्त्यतिष्ठति ।
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥१३॥

असक्तंसर्वभृच्चैव निर्गुणंगुण भोक्तृच ।
वहिरन्तश्च भूताना मचरंचर मेवच ॥ १४ ॥

सूक्ष्मत्वादविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिकेचतत् ।
अविभक्तं च भूतेषुविभक्तमिवचस्थितम् ॥१५॥

भूतभर्तृ चतज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।
ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥१६॥
ज्ञानंज्ञेयंज्ञानगम्यं हृदिसर्वस्य विष्ठितम् ।
इतिक्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयंचोक्तं समासतः ॥१७॥

जिसका आदि कारण कोई नहीं । न किसी उपादान कारणसे उत्पन्न हुआ इससे वह परमात्मा अनादि है जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता इससे सत् अर्थात प्रत्यक्ष नहीं और अत्यन्त अभाव न होने से असत भी नहीं अतः वह सनातन परंब्रह्म है, वह सर्वत्र सब का ग्रहीता और सर्वगत, सर्वद्रष्टा और उसके प्रलयरूप मुख में सारा जगत् है ॥ १२ ॥

वह संसार में सब की सुनता है, वह सब को आच्छादन करके स्थित है वह सब इंन्द्रियों और गुणों का प्रकाशक है और स्वयं सब इन्द्रियों से रहित है ॥१३॥

वह निर्लेप और सबका धारण कर्त्ता है वह प्रकृति के सत्वादि गुणों से रहित निर्गुण है और सब प्राणी मात्र को सत्वादि गुणों का भुगाने वाला है वह सबके बाहर भीतर व्याप्त और अचर स्थिर है तथा अज्ञानियों की दृष्टि में गतिमान् प्रतीत होता है ॥१४॥ वह सूक्ष्म होने से साधारण जनों को अविज्ञेय है वह अज्ञानियों के समीप हुआ भी दूर है और विज्ञानियों के समीप है, वह सब प्राणियों में व्यापक होने से अखंड है और सब लोकों का प्रबन्धकर्त्ता होने से विभक्त सा प्रतीत होता है ॥१५॥ वह प्राणि मात्र का पोषक और प्रलयावस्था में सबको निगलने वाला और उत्पत्ति काल में सबका उत्पादक है, वह सूर्य्यादि ज्योतियों का

प्रकाशक और अप्रकार से रहित है ॥ १६ ॥ वह ज्ञान स्वरूप और ज्ञानियों से जानने योग्य ज्ञान ही से जाना जाता है और प्राणिमात्र के हृदयों में स्थित है। हे अर्जुन यह क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञान ज्ञेय का हमने संक्षेप से वर्णन किया ॥१७॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादि उभावपि।
विकारांश्चगुणांश्चैवविद्धिप्रकृतिसंभवान् ॥१८॥
कार्य कारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृति रुच्यते।
पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वेहेतु रुच्यते ॥१६॥
पुरुषः प्रकृतिस्थोहिभुंक्ते प्रकृति जान गुणान्।
कारणंगुणसयोगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२०॥
उपद्रष्टानुमंताच भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेतिचाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः ॥२१॥
य एवंवेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथावर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥२२॥

हे अर्जुन ! सब जड़ जगत् का उपादन कारण प्रकृति और जीवात्मा पुरुष को तुम अनादि जानो और पृथिव्यादि विकारी पदार्थ तथा शरीरादि को और सत्वरजतम आदि गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो ॥१८॥ कार्य रूप स्थूल पदार्थों के तथा सूक्ष्म महत्तत्वादि के कारण होने से कर्त्तापने का साधन हेतु प्रकृति है और सुख दुःखों के भोग होने में जीवात्मा ही मुख्य हेतु है ॥ १९ ॥ क्योंकि प्रकृति में स्थित हुआ ही जीवात्मा प्राकृतिक सत्वादि गुणों को भोगता है और इस का उच्च नीच योनि में जन्म लेने में इंद्रियों का संग होना ही

कारण है ॥२०॥ इस देह में शुभ कर्म की सलाह देने वाला और सब कर्मों का द्रष्टा और धारक, पोषक, पालक महेश्वर है, अतः वह जीवात्मा से भी परे होने से परमात्मा कहा जाता है ॥२१॥ इस प्रकार जो गुणों के सहित जीवात्मा और परमात्मा तथा प्रकृति को जानता है वह संसार में रहता हुआ भी विरक्त होने से मुक्त हो जाता है ॥२२॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मनमात्मना ।
अन्येसांख्येन योगेन कर्म योगेन चापरे ॥२३॥
अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपिचातितरंत्स्येवमृत्युं श्रुति परायणा॥२४॥
यावत्सं जायते किंचित्सत्वं स्थाव रजंगमम् ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोगात्त द्विद्धिभरतर्षभ ॥२५॥

हे अर्जुन ! कोई उपासक आत्मा और मनके संयोग से ध्यान योग के द्वारा अपने आत्मा में परमेश्वर को देखते हैं। कोई ज्ञान और योग के द्वारा कोई कर्म योग से जप तप द्वारा ॥२३॥ और कोई शास्त्र विद्या को न जानने वाला आप्त विद्वानों से उपदेश लेकर उपासना करते हैं वे सब भी दुःख सागर से पार हो ही जाते हैं ॥२४॥ हे भारत ! जितना कुछ जड़ चेतन उत्पन्न होता है उस सब को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ प्रकृति पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ जानो ॥२५॥

समः सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२६॥
समःपश्यन्हि सर्वत्रसमवस्थितमीश्वरम् ।
नहिनस्त्यात्मनात्मानंततोयाति परांगतिम्॥२७

हे अर्जुन ! उत्पन्न हुए सब भूतों में एक रस स्थित और नाशमान पदार्थों में अविनाशी परमेश्वर को जो देखता है वही देखता है अज्ञानी नहीं देख सकता ॥२६॥ सर्वत्र समानता से एक रस व्यापक ईश्वर को समानता से देखता हुआ ज्ञानी फिर अपने आप से अपने आत्मा का हनन नहीं करता अर्थात् पापपंक में नहीं गिरता इसी से वह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥२७॥

प्रकृत्यैवचकर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यतितथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२८॥
यदाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
अतएवच विस्तारंब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२९॥

प्रकृति के कार्य शरीर इन्द्रियों ही से सब क्रियमाण कर्म जीवात्मा कर्त्ता है परन्तु जब मुक्त अवस्था में सब ओर से शरीर से पृथक् हुआ अपने स्वरूप को जानता है तब अपने को कर्मों का अकर्त्ता देखता है ॥२८॥ जब स्थूल सूक्ष्म भूतों को एक प्रकृति में ही स्थित देखता और अपने स्वरूप को उससे पृथक् जानता है और इसी प्रकृति से सारे जगत् के बिस्तार को देखता है तब सदा मुक्त ईश्वर को प्राप्त होता है ॥२९॥

अनादित्वान्निर्गुणत्व त्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३०॥
यथासर्वगतं सौक्ष्म्यदाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मानोपलिप्यते ॥३१॥

हे कुन्ती के पुत्र शरीरों में व्यापक रहता हुआ भी परमात्मा प्राकृतिक गुणों से रहित और अनादि होने से न शारीरिक कर्मों

को कर्ता न फंसता है ॥३०॥ जैसे सब में व्याप्त आकाश व्याप्य पदार्थों के दोषों से लिपायमान नहीं होता वैसे ही सब देह आदि में व्यापक परमात्मा भी उनके दोषों से दूषित नहीं होता है ॥३१॥

यथाप्रकाशयत्येकः कृत्स्नलोकमिमं रविः।
क्षेत्रंक्षेत्री तथाकृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३२॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३३॥

जैसे सूर्य सब लोकों में प्रकाश करता है हे भारत! वैसे ही सब क्षेत्रों का उत्पादक ईश्वर सारे शरीरों में प्रकाश कर रहा है ॥३२॥ इस प्रकार क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, पुरुष, और पंच भूत तथा मोक्ष पदार्थों के भेद को जो विज्ञानी ज्ञान चक्षु से जानते हैं वे सब से परे परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥३३

इति श्री वेदानुगाभगवद्गीतायां कृष्णार्जुन
संवादे अष्टमोऽध्यायः समाप्तः



अथ नवमोऽध्यायारम्भः

❀ ६१—श्री कृष्णोवाच ❀

परंभूयः प्रवक्ष्यामिज्ञानानां ज्ञान मुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयःसर्वेपरां सिद्धि मितोगताः ॥१॥

श्री कृष्णजी बोले कि हे अर्जुन ! संपूर्ण मुनिलोग जिस ज्ञान को जान कर इस लोकसे परम सिद्धि को प्राप्त हुए ज्ञानों में सर्वोत्तम उस ज्ञान को पुनः मैं तुम्हारे प्रति कहूंगा ॥१॥

सत्वंरजस्तमइति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ।
निवन्धन्ति महावाहो देहे देहिनम व्ययम् ॥२॥
तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशक मनामयम् ।
सुख संगेन वन्धाति ज्ञानसंगेन चा नघ॥३॥
रजो रागात्म कंविद्धि तृष्णा संगसमुद्भवम् ।
तन्नि वन्धाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥४॥
तमस्त्व ज्ञानजंविद्धि मोहनं सर्व देहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निवन्धाति भारत ॥५॥

हे दीर्घवाहु अर्जुन प्रकृति से उत्पन्न जो सत्व, रजस् और तमोगुण हैं ये अविनाशी जीवात्मा को देह में बांधते हैं ॥२॥ उन में से निर्मल और प्रकाशक होने से सत्वगुण शान्ति स्वरूप सुख और विवेक के साथ जीवात्मा को शरीर में वद्ध रखता है ॥ ३ ॥ हे भारत ! तृष्णा को उत्पन्न करने वाला और अनुराग में फंसाने वाला, रजोगुण को जानो वह जीवात्मा को प्रवृत्ति रूप कर्म के व्यवसाय में लगाता है ॥४॥ ज्ञान के प्रकाश से अलग करने वाला तथा मोहित करके अन्धकार में ढकेलने वाला तमोगुण को जानो वह प्रमाद आलस्य और अत्यन्त निद्रा को उत्पन्न करके प्राणियों को बन्धन में डालता है ॥५॥

सत्वं सुखेसंजयतिरजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्यतु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥६॥

रजस्तम श्चाभि भूय सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥७॥

हे भारत ! सत्व गुण की प्रधानता में प्राणी सुख पाता है और रजो गुण कर्मों में लगता है तथा तमोगुण प्राणी को प्रमादी बनाता है ॥६॥ हे भारत ! जब मनुष्य के अन्दर सत्व गुण प्रबल होता है तो रज और तम को दबा लेता है और रजोगुण की प्रबलता में सत्व और तमो गुण दब जाते हैं वैसे ही तमो गुण की प्रबलता में सत्व और रज दब जाते हैं ॥७॥

सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदातदा विद्या द्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥८॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणा मशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥९॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोहएवच ।
तमस्ये तानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१०॥

इस देह के सब इन्द्रियों के द्वारों में जब ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है तब जानना चाहिये कि सत्व गुण की वृद्धि है ॥८॥ हे भारत ! धन का लोभ और प्रवृत्ति तथा कर्मों का आरम्भ और तृष्णा अशान्ति ये सब लक्षण रजो गुण की वृद्धि में जानो ॥९॥ हे कुरुनन्दन ! तमो गुण की वृद्धि में प्रमाद आलस्य अज्ञान और उद्यम से जी चुराना मूढ़ता इन अवगुणों की उत्पत्ति होती है ॥१०

यदा सत्वे विवृद्धेतु प्रलयंयाति देह भृत् ।
तदोत्तमविदांल्लोका न मलान्प्रति पद्यते॥११॥

रजसि प्रलयंगत्वा कर्म सङ्गिषुजायते ।
तथप्रलीन स्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१२॥

जब सत्व गुण की वृद्धिमें कोई मनुष्य मरता है तो वह निर्मल लोकों में जहां उत्तम सुख की प्राप्ति होती है उन में जन्म लेता है ॥११॥ और रजोगुण की वृद्धि समय मरने वाला कर्म शील लोकोंमें तथा तमोगुण की वृद्धिमें मरने वाला पशु आदि,मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥१२॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलंफलम् ।
रजसस्तुफलंदुःखमज्ञानंतमसः फलम् ॥१३॥
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवच ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञान मेवच ॥१४॥

वेदोक्त पुण्य कर्मों का निर्मल सुख रूप सात्विक फल मिलता है और रजोगुणी कर्मों का फल दुःख तथा तमोगुणी कर्मों का फल अज्ञान मूढ़ता है ॥१३॥ सत्व गुणी कर्मों के करने से ज्ञान का प्रकाश और रजोगुणी कर्मों के सेवन से लोभ उत्पन्न होता है और तमो गुणी कर्मों से प्रमाद मोह तथा अज्ञान बढ़ता है॥१४॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्य गुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः॥१५॥
गुणानेतानतीत्यत्रीन्देहीदेह समुद्भवान् ।
जन्म मृत्युजरादुःखै र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥१६॥

सत्वगुणी पुरुष ऋषि महर्षि आदि उच्च योनियों में जन्म लेते हैं रजोगुणी लोग राज्याधिकारी गणों वा धनिकों में जन्मते हैं

तथा नीच वृत्ति वाले तमोगुणी चाण्डाल पशु आदि का जन्म पाते हैं ॥१५॥ देहों में उत्पन्न होने वाले जीवात्मा मनुष्य जन्म में उक्त सत रज तम तीनों गुणों को योगाभ्यास से उल्लंघन करके और जन्म मरण बुढ़ापे के दुःखों से छूट कर मोक्षपद को पाते हैं॥१६॥

कैर्लिंगै स्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

कि माचारः कथंचैतांत्रीनगुणानतिवर्त्तते ॥१७॥

अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे प्रभो ! कैसे आचरण और कैसे कर्मों और कैसे लक्षणों वाला इन तीनों गुणों के फन्दे से छूट सकता है और छूटने पर कैसी दशा में गुणातीत रहता है ॥१७॥

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोह मेवच पांडव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानिननिवृत्तानि कांक्षति ॥१८॥

उदासीनवदासीनो गुणै र्योन विचाल्यते ।

गुणावर्त्तन्त इत्येवं योवतिष्ठति नेङ्गते ॥१९॥

समदुःखसुखः स्वस्थ समलोष्टाश्म कांचनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्म संस्तुति॥२०॥

मानापमान योस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२१॥

हे पांडव ! सत, रज, तम, के प्रकाश। प्रवृत्ति और मोह युक्त कर्मों की प्रवृत्ति से द्वेष नहीं करता और उन कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर कुछ इच्छा नहीं करता ॥१८॥ और उदासीन के तुल्य स्थित हुआ शब्द स्पर्शादि गुणों से चलायमान नहीं होता। सत्त्वादि गुण अपने २ समय पर वर्त्तते हैं ऐसा जान कर स्थिरता से

विचलित नहीं होता ॥१९॥ सुख और दुःख जिसको समान हैं उस स्वस्थ चित्त वाले धीर गुणातीत को मिट्टी और सोना प्रिय और अप्रिय निन्दा और स्तुति एक समान हैं ॥२०॥ अपने मान और अपमान को तुल्य मानने वाला, मित्र और शत्रु दोनों के पक्ष में तुल्य दृष्टि रखने वाला और अपने लिये सब कामों के आरम्भ को त्यागने वाला गुणातीत कहाता है ॥२१

इति श्री वेदानुगा भगवद्गीतायां कृष्णार्जुन
संवादे नवमोऽध्यायः ॥ गी० १४ ॥ १

2-5,19,26,27

अथ दशमोऽध्यायः १०

ऊर्ध्व मूल मधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छान्दांसि यस्यपर्णानियस्तं वेदस वेदवित् ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्यशाखा गुणप्रवृद्धा विषय प्रवालाः । अधश्च मूलान्यनु संत तानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके ॥ २ ॥ न रूपमस्येहतथोपलभ्यते नान्तोन चादि र्नचसं प्रतिष्ठा । अश्वत्थमेनंसुविरूढ़ मूल मसंग शस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा ॥३॥

श्रीकृष्ण जी बोले कि हे अर्जुन ! जो संसार रूपी वृक्ष को जानता है वही वेद को जानने वाला है ॥१॥ वेद मन्त्र जिसके पत्ते हैं, ऊपर को जड़ नीचे को गुद्दे जो प्रवाह से अविनाशी नीचे ऊपर जिसकी शाखायें फैली हुई हैं, गुणों से अत्यन्त बढ़ी हुईं,

विषयों की कौंपलों और कर्मों से जुटी हुई जड़ें मनुष्य लोक में फैली हुई हैं ॥ २ ॥ यहां न इसका रूप समझ में आता न आदि न अन्त न मूल स्थान। हे अर्जुन! इस दृढ़ मूल वाले अश्वत्थ वृक्ष को वैराग्य रूपी दृढ़ शस्त्र से छेदन करके ॥३॥

ततः पदं तत्परि मार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

तदन्तर जिसमें जाकर फिर नहीं लौटते उस मोक्ष पद को ढूंढ़ना चाहिये जहां से अनादि काल वाली संसार की प्रवृत्ति का विस्तार हुआ है उसी सनातन सर्वाध्यक्ष परमात्मा को मैं भी प्राप्त होऊं ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुख दुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ा पदमव्ययं तत् ॥५॥

अहंकार और मोह जिनका छूट गया और संसर्ग से उत्पन्न दोषों को भी जीत लिया और आत्म विचार ही में जो रमते हैं, विषय भोगों की इच्छा का अभाव है और सुख दुःखादि के हेतु द्वन्द्वों से भी छूट गये हैं ऐसे विज्ञानी उस अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं ॥५॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

शरीरेन्द्रि का स्वामी जीवात्मा जब नवीन देह को धारण करता और जब धृत देह से निकलता है तब जैसे वायु पुष्प में से गन्ध को लेकर जाता है वैसे ही जीवात्मा शरीर में से इन्द्रियों को लेकर अन्यत्र चला जाता है। श्रोत्र, चक्षु, रसना, त्वचा, घ्राण इन पांच ज्ञानेन्द्रिय और छठे मन का आश्रय लेकर गर्भ में तथा गर्भ से बाहर आने पर भी शब्दादि विषयों का सेवन करता है॥७५

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं व गुणान्वितम्।
विमूढ़ानानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः ॥८॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ॥६॥

शरीर को छोड़ते हुए और दूसरे शरीर में प्रवेश करते हुए और शरीर में स्थित होकर भोगों को भोगते हुए, तथा सत, रज, तम गुणों से युक्त होते हुए इस जीवात्मा को अज्ञानी जन नहीं देख सकते हैं किन्तु ज्ञान की आंखों से ज्ञानी देखते हैं ॥८॥ ध्यानादि उपायों से योगी लोग अपने अन्तःकरण में आत्मा को देखते हैं परन्तु अशुद्ध अन्तःकरण वाले मन्द मति यत्न करने पर भी आत्मा स्वरूप को नहीं देख पाते ॥५॥

द्वाविमौ पुरुषौलोके क्षरश्चाक्षर मेव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१०॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
योलोकत्रय माविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥११॥

इस लोक में दो पुरुष प्रधान हैं उन दोनों में से शरीरादि और सब भूत विनाश धर्म वाले हैं और नित्य अविनाशी अक्षर

जीवात्मा है ॥१०॥ और जो तीनों लोकमें व्यापक होकर सबका धारण पोषण करता है वह जीवात्मा से अन्य अविनाशी पुरुष सब से उत्तम जिस को परमात्मा नाम से शास्त्रों ने कहा है ॥११॥

इति श्री वेदानुगागीतायां श्रीकृष्णर्जुन संवादे

नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥ गीता० १५

❀❀❀❀❀❀❀

अथ एकादशोध्यायः ११

अभयं सत्व संशुद्धिर्ज्ञान योगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्चयज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेषुलोलुप्त्वं मार्दवंह्री रचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमाधृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति सम्पदं दैवीमभिजातस्यभारत ॥ ३ ॥

निडरता, चित्त की शुद्धि, ज्ञान योग में मन का ठहरना, सत्पात्रों को दान, इन्द्रिय दमन पंच महायज्ञों का करना वेदों का स्वाध्याय शीतोष्ण आदि द्वंद्वों का सहना, मन की कोमलता ॥ १ ॥ प्राणी मात्र से बैर न करना सत्य बोलना, क्रोध न करना । तृष्णा का त्याग, चंचलता से रहित शान्ति रखना, निन्दा का त्याग, प्राणी मात्र पर दया, लोभ का त्याग, कोमल मधुर बोलना पाप कर्म से लज्जा, चपलता न करना, ॥२॥ धार्मिक तेज को धारण करना, सहन शीलता, धर्म के लक्षणों को धारण करना, बाहर भीतर से पवित्र रहना, किसी की भलाई को देख

न जलना, अभिमान न करना, हे अर्जुन ये दैवी संपदा जिन मनुष्यों में होती हैं वे देवता कहाते हैं ॥३॥

दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्य मेवच।
अज्ञानंचाभिजातस्य पार्थ सम्पद मासुरीम् ॥४॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता।
माशुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥
द्वौ भूतसर्गौलोकेस्मिन्दैव आसुर एवच।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मेशृणु ॥ ६ ॥

लोगों में अपने धर्मात्मा होने की ध्वजा फैराना और अन्दर धर्म भाव बिलकुल न हो वह दम्भी जानो, धन का गर्व, अपने को पूज्य मानना, क्रोध, कठोर भाषण और अज्ञान हे पार्थ ! यह आसुरी सम्पदा हैं ॥ ४ ॥ दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये है और आसुरी सम्पदा जन्म मरण के प्रवाह में बहाने वाली है, हे अर्जुन! तुम तो दैवी सम्पदा वाले हो इसलिये शोक मत करो॥५॥ इस लोक में दैवी और आसुरी दो ही सम्पदा हैं सो दैवी सम्पदा तो हमने विस्तार पूर्वक कहदी अब हे पार्थ ! आसुरी सम्पदा को विस्तार से सुनो ॥ ६ ॥

प्रवित्तिं च निवृतिं च जनानविदुरासुराः।
न शोचं नापि चा चारो न सत्यंतेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥ ८ ॥

असुर लोग इष्ट में प्रवृत्ति को और अनिष्ट से निवृत्ति को नहीं जानते और न उनमें बाहर भीतर की पवित्रता न अच्छा

चाल चलन और न सत्य का व्यवहार होता है ॥ ७ ॥ प्रकृति को असत्य और जगत् की स्थिति को मिथ्या और ईश्वर को भी नहीं मानते, स्त्री पुरुष के संयोग से यह सृष्टि अनादि काल से ऐसी ही चली आती है इसका काम शक्ति से भिन्न अन्य कोई कारण नहीं है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टि मवष्टभ्यः नष्टात्मानोल्प बुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणिः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९ ॥
काममाश्रित्यदुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०

चेतना शक्ति जिनकी लुप्त होगई ऐसे मन्द मति असुर लोग ऐसी दृष्टि का आश्रय लेकर विश्वासघात आदि खोटे कर्मों के द्वारा जगत् की हानि करते हुये प्राणियों का नाश करने के लिये होते हैं ॥ ९ ॥ धर्मध्वजी बने हुए नशे में चूर अथाह काम भोगों की तृष्णा का आश्रय लेकर दिखावटी शुद्धि का नियम रखते हुए वास्तव में बड़े नापाक, अज्ञान से ग्राह जन्तु के समान महा अनर्थ युक्त विषयों को ग्रहण करके वर्तमान होते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयांच प्रलयान्ता मुपाश्रिताः ।
कामोप भोग परमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाश शतैर्बद्धाः कामक्रोध परायणाः ।
ईहन्ते काम भोगार्थ मन्यायेनार्थ संचयान् ॥१२॥
इदमद्यमयालब्ध मिमंप्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीद मपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३ ॥

असौमयाहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहंभोगी सिद्धोऽहंबलवान् सुखी ॥१४॥

मृत्यु पर्य्यन्त अपरिमित चिन्ता में डूबे रहते हैं और यही जिनका निश्चय मत है कि संसार में भोग और उपभोगों का भोगना ही उत्तम है अन्य कुछ नहीं ॥ ११ ॥ सदा काम क्रोध में तत्पर और सैकड़ों तरह की कामना रूप फांसियों में जकड़े हुए काम सुख भोग के लिये अन्याय से धन संचय करने की चेष्टा करते हैं ॥ १२ ॥ यह धन मैंने प्राप्त कर लिया और इस अपने मनोरथ को और शीघ्र प्राप्त करूंगा यह इतनी सम्पत्ति मेरे पास है और यह इतनी सम्पत्ति और मेरे पास हो जावेगी ॥ १३ ॥ वह देखो एक शत्रु को मैंने मार डाला और दूसरे शत्रुओं को भी ऐसे ही हन डालूंगा मैं बड़ा ऐश्वर्य वाला हूं मैं सिद्ध हूं मैं बड़े २ उत्तम भोगों को भोगने वाला हूं मैं बड़ा सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्तिसदृशंमया ।
यक्ष्येदास्यामि मोदिष्यइत्यज्ञान विमोहिताः॥१५॥
अनेकचित्त विभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः काम भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्म सम्भावि तास्तब्धा धन मान मदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भे ना विधि पूर्वकम्॥१७॥

मैं बड़ा धनवान हूं, बड़ा कुटुम्बी हूं,मेरे तुल्य दूसरा कौन है, यज्ञ करेंगे, दान देवेंगे, मौज उड़ावेंगे, इस प्रकार अज्ञान में मोहित रहते हैं ॥ १५ ॥ अनेक विषयों में चित्त की फसावट से व्याकुल रहते हैं, चारों ओर से मोह रूपी जाल में फंसे हुए काम भोगों

में आसक्त महा दुर्गंध युक्तनरक में गिरते हैं ॥ १६ ॥ आपही अपनी वड़ाई करने वाले ढीट किसी को न. नवने वाले धन और मान के नशा में चूर, दिखलावे के लिये विना विधि से असुर लोग हिंसा-युक्त बड़े २ यज्ञ करते हैं ॥ १७

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशन मात्मनः ।
काम: क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्त्यजेत् ॥१८॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेयतमो द्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्त्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परांगतिम् ॥१६॥

काम, क्रोध, लोभ ये तीन नरक में जाने के दरवाजे हैं येही आत्मा के डुबाने वाले हैं इस लिये इन तीनों को त्याग देवे ॥१८॥ हे अर्जुन ! इन्हीं तीनों से छूटा हुआ मनुष्य कल्याण का आचरण करता है पश्चात् मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

यःशास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचरतः ।
न च सिद्धि मवाप्नोति न सुखं नपरांगतिम् ॥२०॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्या कार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्त्तुं मिहार्हसि ॥२१॥

जो शास्त्र की विधि को छोड़ कर अपनी इच्छानुसार कार्य करता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता और न सुख तथा मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ २० ॥ तिस कारण से करने योग्य और न करने योग्य के जानने के लिये तुमको शास्त्र ही मुख्य प्रमाण है; शास्त्रमें कहे विधान को जानकर आप कर्म करने के योग्य हो ॥२१॥

इति श्री वेदानुगा गीतायां श्री कृष्णार्जुन संवादे

एकादशोध्यायः ॥११॥ गीता० १६. अ०

अथ द्वादशोध्यायः

❋ अर्जुनोवाच ❋

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठातु का कृष्ण सत्ववाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले कि हे कृष्णजी ! जो अज्ञान तथा आलस्य वश शास्त्र विधि को छोड़ कर प्रीतिपूर्वक यज्ञों को करते हैं उनकी गणना वा स्थिति सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों में से किस में समझनी चाहिये ॥ १ ॥

❋ कृष्णोवाचः ❋

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सास्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेतितां शृणु ॥२ ॥
सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयंपुरुषो योयच्छ्रद्धःस एवसः ॥३॥
यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसाः जनाः॥४॥

सत्वगुणी रजोगुणी तमोगुणी तीन प्रकार की श्रद्धा मनुष्यों में स्वभाव से ही होती है ॥२॥ हे भारत ! वह श्रद्धा तो सबकी देखने में सत्व गुण रूप ही प्रतीत होती है परन्तु यह श्रद्धा वाला पुरुष जिस गुण वाला होता है वास्तव में उसकी श्रद्धा उसी गुण के रूप में होती है ॥ ३ ॥ सत्वगुणी पुरुष दिव्य ज्ञान गुणों से युक्त ईश्वर पूर्ण विद्वानों की पूजा करते हैं और रजोगुणी नर नारी अपनी पूजा की इच्छा रखने वाले यक्ष तथा भय दिखाकर पुजाने वाले राक्षसों की पूजा करते हैं और तमोगुणी लोग

अज्ञानवश मरे हुये भूत और उनकी प्रेतरूप मूर्ति की उपासना करते हैं ॥४॥

आहारस्त्वपिसर्वस्यत्रिविधो भवतिप्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानतेषां भेद मिमंशृणु ॥ ५ ॥

आहार, यज्ञ, तप दान सब तीन प्रकार के मनुष्यों को तीन २ प्रकार का ही प्रिय होता है उन तीन तीन प्रकार के आहार आदि के भेद आगे कहता हूं उनको भी आप सुनिये ॥ ५ ॥

आयुः सत्व बलारोग्य सुखप्रीति विवर्द्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाः स्थिराहृद्याश्चाहारासात्विकप्रियाः६॥
कट्वम्ललवणात्युष्णा तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहाराराज सस्येष्टा दुःखशोकाभयप्रदाः ॥७॥
यातयामगतरसंपूति पर्य्युषितञ्चयत् ।
उच्छिष्टमपिचामेध्यं भोजनंतामस प्रियम् ॥ ८ ॥

आयु, बल, उत्साह, नीरोगता, सुख, प्रीति, रुचि को बढ़ाने वाले रसीले, चिकने, बुद्धि को स्थिर रखने वाले, हृदय को प्रिय ऐसे भोजन सत्वगुणी पुरुषों को प्रिय होते हैं ॥ ६ ॥ अति चरपरे मिर्च आदि अति खट्टे, अति लवण युक्त, अति गर्म, अति तीक्ष्ण सिरका आदि, तथा खुष्क और जलन पैदा करने वाले राई सरसों आदि, दुःख और शोक तथा रोगों को पैदा करने वाले भोजन रजो गुणी पुरुषों को प्रिय होते हैं ॥ ७ ॥ जिसको पकने से एक प्रहर बीत गया हो, और स्वाद भी जाता रहा हो, तथा दुर्गन्ध युक्त लशुन प्याज आदि और बासी जूंठा अपवित्र मद्यादि युक्त भोजन तमोगुणी पुरुषों को प्यारा लगता है ॥८॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञोविधि दिष्टोयइज्यते ।
यष्टव्यमेवेतिमनः समाधायससात्विकः ॥ ९ ॥

अभिसंधायतुफलं दम्भार्थ मपि चैवयत् ।
इज्यते भरत श्रेष्ठ तं यज्ञंविद्धि राजसम् ॥१० ॥
विधिहीनमसृष्टान्नंमन्त्र हीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ ११ ॥

फल प्राप्ति को इच्छा से रहित किन्तु कर्त्तव्य धर्म जान कर मन में दृढ़ संकल्प करके शास्त्रोक्त विधि से जो यज्ञ किया जाता है वह सत्व गुणी यज्ञ कहा जाता है ॥ ९ ॥ हे भारत ! जो फल प्राप्ति की इच्छा से और कीर्ति फैलाने की कामना से यज्ञ किया जाता है उस को आप रजोगुणी यज्ञ समझो ॥ १० ॥ जो वेद शास्त्र की विधि से रहित अपवित्र अन्न और वेद मन्त्रों को छोड़ कर ऋत्विजादि को दक्षिणा न दे कर अश्रद्धा से किया जावे उस यज्ञ को तामसी जानो ॥ ११ ॥

देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्य महिंसाच शारीरं तप उच्यते ॥१२ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितंचयत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैववाङ्मयं तपउच्यते ॥ १३ ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्ये तत्तपोमानसमुच्यते ॥ १४ ॥

हवन यज्ञ से देवताओं और वेदज्ञ गुरु तथा विद्वानों का सत्कार करना बाहर भीतर की पवित्रता, कोमल स्वभाव जतेन्द्री रहना, हिंसा का त्याग यह शरीर का तप कहाता है ॥ १२ ॥ कठोरता से रहित सत्य से युक्त सब को प्यारा और हितकारी वचन बोलना और नित्य वेदों के स्वाध्याय का अभ्यास करना यह वाणी का तप कहाता है ॥ १३ ॥ राग द्वेषादि को हटा कर मन को प्रसन्न रखना शांति का धारण, वाणी से मित

भाषण, विषय वासना से मन को हटाए रखना, और मानसिक विचारों को शुद्ध रखना, यह मानसिक तप कहाता है ॥ १४ ॥

श्रद्धया परयातप्तंतपस्तत् त्रिविधंनरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१५ ॥
सत्कार मान पूजार्थं तपोदम्भेन चैवयत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१६ ॥
मूढ़ ग्राहेणात्मनोयत् पीड़या क्रियते तपः ।
परस्यात्सादनार्थंवातत्तामसमुदाहृतम् ॥ १७ ॥

फल प्राप्ति की इच्छा से रहित मनुष्यों ने अत्यन्त श्रद्धा से किये तीन प्रकार के तप को विद्वान लोग सत्त्व गुणी तप कहते हैं ।१५। और जो सत्कार, प्रतिष्ठा, तथा अपनी पूजा कराने की इच्छा से आडम्बर के द्वारा किया जाता है वह तप चंचलता से युक्त राजसी कहाता है ॥ १६ ॥ मूढ़ता से युक्त मन है जिनका ऐसे तमो गुणी मनुष्य दुःख मानते हुए अन्यों को पीड़ा देने के लिये जो तप करते हैं वह तामसी तप कहाता है ॥ १७ ॥

दातव्य मिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे कालेच पात्रे चत द्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ १८॥
यत्तु प्रत्युपकारर्थं फल मुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयतेच परिक्लिष्टं तद्दानंराज संस्मृतम् ॥ १९॥
अदेश काले यद्दानमपात्रेभ्यश्चदीयते ।
असत्कृत मव ज्ञातंतत्तामसमुदाहृतम् ॥ २० ॥

परोपकार के लिये दान देना धर्म है ऐसा मानकर देश की दशा, और समय तथा दान ग्रहीता की पात्रता को समझकर और बदला न चाहता हुआ जो दान दिया जाता है वह सत्त्व गुणी दान

कहाता है ॥ १८ ॥ जिस को दान देता हूं उससे मेरे बड़े २ प्रयोजन सिद्ध होंगे, अथवा मुझे स्वर्ग फल मिलेगा, या किसी दबाव से दान देता है वह दान रजो गुणी जानना चाहिये ॥ १९ ॥ देश की दशा और समय का विचार न करके निरादर करते हुए अज्ञानसे जो कुपात्रोंको दान दियाजाता है वह तमोगुणी दान है।

ओंतत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधःस्मृतः।
ब्राह्मणस्तेनवेदाश्चयज्ञाश्चविहिताःपुरा ॥ २१ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदान तपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततंब्रह्मवादिनाम् ॥ २२ ॥
तदित्यनभि सन्धाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः।
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥ ३२

ओ३म्। तत् सत् यह तीन प्रकार के नामों का संकेत परमात्मा के स्वरूप का जताने वाला विद्वानों ने माना है। इसी हेतु से परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भकाल में ब्राह्मण वेद, यज्ञ उत्पन्न किये, ओ३म् पद का अर्थ रक्षा है वेद विद्या से रक्षा के लिये ब्राह्मण। तत् पद का अर्थ परीक्षा है इसलिये परीक्षार्थ को जानने के लिये वेदों को तथा सत् पद का अर्थ सत्ता है इसलिये स्थिति को जानने के लिये यज्ञों को प्रकाश किया ॥ २१ ॥ इसी हेतु से (ओम्) इस नाम का उच्चारण करके ही वेद वेत्ता वेदोपदेष्टा विद्वान् आर्य लोगों के कहे हुए विधिपूर्वक यज्ञ, दान, तप नामक कर्म निरन्तर प्रचरित हैं अर्थात् बिना ओम् उच्चारण के कोई कर्म नहीं किया जाता ॥ २२ ॥ (तत्) इस शब्द का अर्थ परोक्ष है इसलिये परोक्ष फल मुक्ति प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के यज्ञ तप और दान सम्बन्धी कर्मों को मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वाले विवेकी करते हैं ॥ २३ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थयुज्यते ॥२४॥
यज्ञे तपसि दानेच स्थितिः सदितिचोच्यते ।
कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २५ ॥
अश्रद्धया हुतंदत्तं तपस्तप्तं कृतंच यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ नचतत्प्रेत्यनोइह ॥ २६ ॥

हे पार्थ ! सत्तार्थ में और साधु भाव में, प्रशंसित कर्म में, सत् शब्द का व्यवहार किया जाता है जैसे सदर्थ है, सत् जन है, सत्-कर्म ।२४॥यज्ञ,तप,दानमें भी सत्का प्रयोग होता है और ईश्वरकी आज्ञा पालनार्थ भी धर्मयुक्त कर्म सत् कहा जाता है॥२५॥हे पार्थ! अश्रद्धा से जो होम दान तप वा स्तवन आदि कर्म किया जाता है वह असत् कहाता है असत् कर्म किया हुआ इस लोक वा पर-लोक में कहीं भी कल्याण करने वाला नहीं होता ।

इति श्री वेदानुगा गीतायांश्रीकृष्णार्जुन संवादेद्वादशोऽध्यायः॥१२॥

अथ त्रयोदशाध्यायः

प्रारभ्यते

❀ अर्जुनोवाच ❀

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्क केशिनिषूदन ॥ १ ॥

हे दीर्घ भुजा वाले केशि दैत्य के मारने वाले हृषीकेश मैं संन्यास और त्याग का ठीक ठीक तत्त्व जानना चाहता हूं। यह अर्जुन ने पूछा।

श्रीकृष्णउवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयोविदुः
सर्व कर्म फल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणः ॥ २ ॥

पुत्रेष्टि आदि कामना युक्त कर्मों के त्याग को विद्वानों ने संन्यास माना है और ब्रह्म यज्ञादि योग युक्त कर्मों के फल न चाहने को पण्डितों ने त्याग कहा है ॥२॥

त्याज्यं दोष वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदान तपः कर्मः न त्याज्य मिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणुमेतत्र त्यागे भरत सत्तम ।
त्यागोहि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदान तपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत् ।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनिषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यापितु कर्माणि संगंत्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीतिमेपार्थ निश्चितंमतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

कोई विद्वान् लोग ऐसा मानते हैं कि संन्यासी के लिये राग द्वेष मोहादि से होने वाले कर्मों को त्यागना शास्त्र में लिखा है अन्य धार्मिक कर्मों का नहीं ॥२॥ तथा कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि वेदोक्त यज्ञ दान और तप रूप कर्म संन्यासी को कभी त्याग न करने चाहियें ॥३॥ हे भरत वंशी अर्जुन ! अब त्याग विषय में मेरा निश्चित मत सुनो, हे पुरुषसिंह ! आगे कहा हुआ तीन प्रकार का त्याग है ॥४॥ यज्ञ दान और तप ये कभी त्याग ने योग्य नहीं क्योंकि यज्ञ दान और तप तो विवेकियों को पवित्र करने वाले हैं इस लिये जरूर करने चाहियें किन्तु संन्यासी इन वेदोक्त कर्मों के फल प्राप्ती की कामना और आसक्ति को छोड़

कर अवश्य ही इन यज्ञादि कर्मों को करे यह मेरा निश्चत उत्तम मत है।

नियतस्यतु संन्यासः कर्मणोनोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्त्येव यत्कर्म कायक्लेश भयात्यजेत्।
सकृत्वा राजसं त्यागं नैव त्याग फलं लभेत् ॥८॥
कार्य्यं मित्त्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगंत्यक्त्वा फलंचैव सत्त्यागः सात्त्विकोमतः ॥९॥

वेदोक्त नियम यज्ञादि कर्मों का किसी भी आश्रम में त्याग करना उचित नहीं। उन यज्ञादि कर्मों को अज्ञान से त्याग देना तमो गुणी त्याग है ॥७॥ यज्ञादि कर्म करना तो अच्छा है ऐसा जान कर भी इनके करने से शरीर को क्लेश होगा इस भय से दुःख मानकर जो सत्कर्मों को त्यागता है वह रजोगुणी त्याग है. अतः रजो गुणी त्यागी त्याग के उत्तम फल को प्राप्त नहीं होता ॥८॥ कर्मों में आसक्त होना और फल प्राप्ति की इच्छा इन दोनों को त्यागकर मुझको यज्ञादि कर्म अवश्य करने चाहियें हे अर्जुन! ऐसा जो आसक्ति और फलेच्छा का त्याग ने वाला है वह सत्व गुणी त्यागी उत्तम है ॥९॥

नद्वेष्टय्य कुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागीसत्वसमाविष्टोमेधावीछिन्नसंशयः ॥ १० ॥

सब ओर से सत्व गुण में स्थित, विवेकी संशय से रहित, त्यागी पुरुष, धर्म कार्य के करने में शीत गरमी आदि दुःखदायी कर्मों से द्वेष नहीं करता और सुखदायी कर्मों में फंसता नहीं॥१०॥

नहिदेहभृतांशक्यं त्यक्तुं कर्माण्य शेषतः ।
यस्तुकर्मफलत्यागीसत्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
अनिष्ट मिष्टं मिश्रं चत्रिविधः कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्यनतु संन्यासिनांक्वचित् १२॥

कोई भी देह धारी प्राणी श्वास प्रश्वास, उठना, बैठना, खाना पीना आदि कर्मों को नहीं छोड़ सकता इस लिये जो कर्मों के फल प्राप्ति की इच्छा को त्याग कर ईश्वर की भक्ति के लिये कर्म कर्त्ता है वही सच्चा त्यागी है ॥११॥ इष्ट जिसके करने की शास्त्र में आज्ञा है, अनिष्ट जिनके करने की आज्ञा नहीं है तथा जिसमें इष्ट अनिष्ट दोनों मिले हुए हैं इन तीन प्रकार के कर्मों के कर्त्ताओं को मरने पश्चात् तीन ही प्रकार के फल मिलते हैं ॥१२॥

पंचेमानिमहाबाहो कारणा निनिबोधमे ।
सांख्येकृतान्तेप्रोक्तानि सिद्धयेसर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे दीर्घ भुजा वाले अर्जुन! सब कर्मों की सिद्धि के लियेसांख्य शास्त्रके सिद्धान्तमें कहे हुये इन पांच कारणोंको मुझसे जानो।१३।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पंचमम् ॥१४॥
शरीरवांङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥१५ ॥
तत्रैवं सतिकर्त्तार मात्मानं केवलंतुयः ।
पश्यत्यकृत बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्यनाहं कृतोभावो बुद्धिर्यस्य नलिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

१ शरीर रहने का आधार, २ जीवात्मा कर्त्ता, ३ पांच ज्ञान इन्द्रियां, ४ पांच कर्म इन्द्रियां, ५ सूर्य अग्नि आदि देवताओं ※ से सहायता मिलना ये पांच कारण कर्म करने के हैं ॥१४॥ मनुष्य शरीर वाणी और मन से जिस धर्म युक्त वा अधर्म युक्त कर्म का आरम्भ करता है उन कर्मों के करने में ये उक्त पांच हेतु होते हैं ॥ १५ ॥ पूर्वोक्त पांच हेतुओं के होने पर भी जो निर्बुद्धि पुरुष केवल जीवात्मा को ही कर्मों का कर्त्ता मानता है वह दुर्मति कर्म के हेतुओं को नहीं देखता है ॥ १६ ॥ और जिस पुरुष में अज्ञान युक्त अहंकार नहीं है तथा जिसकी बुद्धि भी अनिष्ट कर्मों में फंसी नहीं है वह इन पापात्मा दुर्योधनादि जैसे पापियों को मार कर भी न हनने वाला है और न बन्धन में पड़ता है क्योंकि वह ईश आज्ञा पालन करता है ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधाकर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि १९॥

ज्ञान और ज्ञेय और परिज्ञाता (जीवात्मा) शरीर में इन तीनों की मौजूदगी ही शरीर को कर्म में प्रेरणा करती है। और चक्षुआदि इन्द्रियां, तथा कर्त्ता का इच्छित कर्म, और कर्त्ता जीवा-

※ नेत्र का सहायक सूर्य व अग्नि, कान का आकाश, नाक का पृथिवी, जीभ का जल, त्वचा का वायु ये पाँच देवता पाँचों इन्द्रियों के सहायक हैं, तभी कर्म हो सकता है। अतः शरीर १ जीवात्मा २ ज्ञानेन्द्रिय ३ कर्मेन्द्रिय ४ और ५ देव इन्हीं ५ के होने पर कर्म कर सकते हैं उक्त पांचों में से एकके न होने पर कर्म नहीं कर सकते अतः अकेला जीवात्मा कर्मों का कर्ता नहीं।

त्मा इन तीनों ही में क्रिया का संग्रह रहता है ॥१८॥ सत्व आदि तीन गुणों के भेद ही से सांख्य शास्त्र में ज्ञान कर्म और कर्त्ता इन एक एक को तीन २ प्रकार का कहा है उनको भी यथावत् सुनो ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भाव मव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तुकृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्त महैतुकम् ।
अत त्वार्थवदल्पंच तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अपने स्वरूप से परस्पर अलग अलग पदार्थों में जिस ज्ञान से अखंड एक रस ईश्वर को देखता है उस ज्ञान को सात्विक जानो ॥२०॥ सब चराचर भूतों में अलग अलग ईश्वर को जानना और पृथक् किसी खास स्थान पर ईश्वर को मानना उसको रजो गुणी ज्ञान समझो ॥ २१ ॥ और जो सम्पूर्ण ईश्वर को किसी एक ही कार्यरूप पदार्थ पाषाण, आदि की मूर्ति में बद्ध जानना, वह ज्ञान अप्रमाण, तत्व ज्ञानसे रहित मिथ्या होने से तमो गुणी कहा गया है ॥२२॥

नियतं संग रहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासंतद्राजस मुदाहृदम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

फल की इच्छा से रहित और फंसावट को छोड़कर राग द्वेष के बिना सात्विक कर्त्ता से किया गया जो कर्म वह सात्विक कहाता है ॥२३॥ और जो अहंकार से युक्त बहुत परिश्रम से फल भोग की इच्छा से किया जाता है वह कर्म रजोगुणी कहा है ॥२४॥ इस कर्म का क्या परिणाम होगा, तथा हानि, पर पीड़ा और परिश्रम का विचार न करके अज्ञान से जिस कर्म का आरम्भ किया जाता है उसको तमो गुणी कर्म कहा जाता है ॥२५॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिध्यसिध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतस्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामयस उच्यते॥२८॥

लिप्तता से रहित निरभिमान होकर धीरज और उत्साह से सब कर्मों के करने वाला सफलता और निष्फलता में जो हर्ष शोक नहीं करता वह कर्त्ता सत्व गुणी कहाता है ॥२६॥ रोगों से लिपटा हुआ और कर्म फल का चाहने वाला, लोभी अन्यों की हानि करके भी अपना लाभ करना अपवित्र रहने वाला हर्ष शोक से युक्त कर्त्ता रजो गुणी कहा गया है ॥२७॥ विकलेन्द्रिय, अज्ञानी मूर्ख कठोर हठी पराये हित में विघ्न डालने वाला आलसी दुःखी मन से काम करने वाला एक घन्टे के कार्यको अनेक घन्टों में करने वाला,कर्त्ता तमो गुणी कहाता है ।

बुद्धेर्भेदंधृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधंशृणु ।
प्रोच्यमान मशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय ! सम्पूर्णता से अलग २ कहे हुए सत्वादि गुणों के सम्बन्ध से बुद्धि और धृति के भेदों को आप सुनें ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्य्याकार्य्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ३०
यया धर्ममधर्मं च कार्य्यं चाकार्य्यमेवच ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता ।
सर्व्वार्थान् विपरीतांश्चबुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

किस व्यवहार को करना चाहिये किस को नहीं, कर्त्तव्य क्या है अकर्त्तव्य क्या है, किससे डरना और किससे नहीं डरना, बन्धन और मोक्ष, इन सबको जिसके द्वारा ठीक २ जाना जाय वह सत्व गुणी बुद्धि है ॥३०॥ हे पार्थ ! जिस के द्वारा धर्म अधर्म कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को ठीक २ नहीं जानता वह बुद्धि रजो गुणी है ॥ ३१ ॥ जो तमोगुण से ढकी हुई जिससे धर्म को अधर्म और सब अर्थों को उलटे ही समझता है वह बुद्धि तमो गुणी है

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रिया ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ३३
ययातु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिःसा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

योगाभ्यास से जो विषयों की तरफ न झुकने वाली, धारणा के द्वारा मन वाणी प्राण की क्रियाओं को कुचेष्टाओं से रोक कर जो धारण की जाती है। हे अर्जुन ! वह सात्विकी धृति है ॥३३॥

हे पार्थ ! आसक्ति से फल की इच्छा से युक्त जिस धृति से धर्म और भोगों के लिये जो धारणा की जाती है वह धृति राजसी कही गई है ॥ ३४ ॥ अविवेकी नीच बुद्धि वाला मनुष्य जिस अज्ञान युक्त धारणा से, अधिक सोना डरना, शोकित रहना गिलानी नशा का सेवन करने के स्वभाव को नहीं छोड़ता वह तामसी धृति मानी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भारत ! जिसमें अनादि काल से भोगने के अभ्यास वश प्राणी रमण करता है उसी में रोगी हुआ दुःख को भी नहीं जान पाता, उस तीन प्रकार के सुख को भी मुझ से सुनो ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्त आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामेविषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् । ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरम्भ में वेदोक्त विद्या की प्राप्ती के ब्रह्मचर्यादि साधन कठिन होने से विष के समान प्रतीत होते हैं परन्तु वेद विद्या की समाप्ति होने पर आत्मा और बुद्धि में आनन्द का उत्पन्न करने वाला वह सुख अमृत के तुल्य सात्विक है ॥ ३७ ॥ जो इंद्रिय और विषयों के संयोग से सुख उत्पन्न होता है वह आदि में तो अमृत की तुल्य ज्ञात होता है परन्तु अन्त में वही सुख विष समान होता है वह राजसी सुख कहा है ॥ ३८ ॥ जो निद्रा आलस्य और मद्य पान से सुख आरम्भ होता है और अन्त में आत्माको जड़के समान कर देता है वह सुख तमोगुणी कहागया है

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

पृथिवी, द्यौ, आदि देव लोकों में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सत्वादि तीन गुणों से अलग हो ॥ ४० ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तपः ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के सत्व, रज, तम युक्त स्वभाविक गुणों के प्रकट होने पर ही कर्मों का विभाग किया जाता है ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्राह्म कर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्याऽऽत्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

विषय तृष्णा का त्याग शम, इन्द्रियों को वश में रखना दम, कठिनाई को सहन करके धार्मिक आचरण करना तप, बाहर भीतर से पवित्र रहना क्षमा और कोमलता सांसारिक ज्ञान, और पारमार्थिक विज्ञान और वेद तथा ईश्वर में दृढ़ प्रेम रूप आस्तिकता ये गुण कर्म सत्व गुण वाले ब्राह्मण में स्वाभाव से ही होते हैं ॥ ४२ ॥ शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, नीति निपुणता, युद्ध से न डरना सत्पात्रों को दान देना ईश्वर भक्ति में दृढ़ प्रेम ये गुण कर्म सत्व और रजोगुण वाले क्षत्री के स्वभाव में उत्पन्न होते हैं ॥ ४३ ॥ खेती विद्या का जानना, गवादि पशुओं का पालन, और वणिज व्यापार करना ये गुण कर्म वैश्य में रजोगुणी स्व-

भाव से प्रकट होते है। और तमोगुणी होने से सेवा कर्म से जीवन निर्वाह करना शूद्र का कर्म है॥ ४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्व कर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्ण अपने २ कर्मों में श्रद्धा से लगे हुए इष्ट सिद्धि को प्राप्त होते हैं सो अपने कर्म में लगे हुए जिस प्रकार सिद्धि को पाते हैं उसको आप सुनें॥ ४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येनसर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेयः सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

सब प्राणियों की जिससे प्रवृत्ति होती और जिससे सब चराचर विस्तार पाता है। उस परमात्मा को अपने २ वेदोक्त कर्म के द्वारा उपासना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है॥ ४६॥ श्रद्धा से अनुष्ठान किया हुआ अपने २ वर्णका धर्म से किसी गुण में न्यून भी होवे तो भी अपने ही वर्ण के धर्म कल्याणकारी होता है इसी से ब्राह्मण क्षत्रियादि अपने २ वर्ण के स्वाभाविक नियत कर्म करते हुए पाप के भागी नहीं होते। हे कुन्ती के पुत्र! बिना विचारे अपने २ वर्ण के स्वाभाविक कर्म को किसी के दोष बताने पर भी न त्यागे क्योंकि जैसे अग्नि के साथ धूआं रहता है वैसे ही सभी कर्मों के आरम्भ दोष से लिपटे रहते हैं॥ ४८॥

असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेयनिष्ठा ज्ञानस्यया परा ॥५०॥

सब भोगों में जिसकी बुद्धि आसक्त नहीं जितेन्द्री तृष्णा से अलग, कर्म फल की इच्छा से रहित पुरुष वैराग्य से सिद्धी को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ हे कुंती के पुत्र ! सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है जो कि ईश्वर के मिलाने वाले ज्ञान की अन्तिम सीमा है उसको संक्षेप से सुनो ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्यच।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौव्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लध्वाशी जितवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्यनिर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

पवित्र बुद्धि से युक्त धीरज से अन्तःकरण को वश में करके इंन्द्रियों के शब्द आदि विषयों को त्याग कर राग द्वेष को छोड़ ॥५१॥ एकान्त सेवी लघु भोजन वाणी काया और मन को वश में कर नित्य वैराग्य का आश्रय रखता हुआ, अहंकार बल और घमंड, काम, क्रोध और बन्धन को छोड़ कर ममता का त्याग करके, ध्यान योग में तत्पर शांत पुरुष ब्रह्म प्राप्ति के लिये समर्थ होता है ॥ ५२ । ५३ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत् ॥५४॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥५५॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परांशान्तिंस्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम् ।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरंमया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसितथा कुरु ॥५७॥

हे कुन्ती पुत्र अपने स्वाभाविक कर्म से बन्धा हुआ तू जिस युद्ध को करना नहीं चाहता है उसको विवश होकर भी करेगा. ५४॥ हे अर्जुन ! सब प्राणियों के हृदय देश में विराजमान, ईश्वर यन्त्र पर चढ़े हुए सब प्राणियों को प्रकृति से घुमा रहा है॥५५॥ हे भारत! उसका ही सहारा ले उसी की कृपा से अत्यन्त शांति और उत्तम स्थान को पावेगा ।५६॥ यह गोपनीय से अति गोपनीय ज्ञान तुझ को मैंने बतला दिया, इसको पूर्ण रीति से विचार कर जैसी इच्छा हो वैसा कर ॥ ५७ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतंपार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥५८॥

हे पार्थ क्या तुमने एकाग्रचित्त से यह मेरा उपदेश सुना, हे धनंजय ! क्या तेरी अज्ञान का भ्रम नष्ट हुआ ॥५८॥

❀ अर्जुनोवाच ❀

नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मिगत सन्देहः करिष्ये वचनंतव

अर्जुन ने कहा कि हे! कृष्ण मेरा मोह नाश हो गया मैंने उत्तम स्मृति पाली अब आपकी कृपा से मैं निस्सन्देह हूं और आपकी आज्ञा पालन करूंगा ।।५९ ॥

संजय उवाच

इत्यहंवासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिम मश्रौष मद्भुतं लोमहर्षणम् ॥६०॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिध्रुवानीतिर्मति र्मम॥६१॥

संजय बोले कि हे राजा धृतराष्ट्र महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रोमांच कारी और आश्चर्य रूप सम्वाद को मैंने सुना ।। ६० ।। सो हे राजन्! इस विषय में मेरी यही सम्मति है कि जहां पर योगीराज कृष्ण और युद्ध कुशलधारी अर्जुन विद्यमान हों वहीं पर राज श्री रहेगी और उसी पक्ष का विजय होगा उसी का ऐश्वर्य और उसी पक्ष की अटल नीति से सिद्धि होगी ।। ६१ ।।

इति श्री वेदानुगा भगवद्गीतायां श्री कृष्णार्जुन सम्वादे

त्रयोदशाध्यायः

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।





वैदिक सिद्धान्त ग्रन्थमाला

—————:o:—————

इसमाला का प्रकाशन विधर्मियों के वैदिक सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समुचित उत्तर देने के लिये किया गया है। इस माला से आर्य जनता को विशेष लाभ होगा, हिन्दी भाषा जानने वालों को सुगमता से वैदिक सिद्धान्तों के रहस्य अवगत हो जायंगे। माला के कुछ अङ्क निम्न हैं। प्रति अङ्क ।=) आना

वैदिक वर्ण व्यवस्था पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध

नियोग मर्दन का विमर्दन

पितृयज्ञ समीक्षा

मूर्त्ति पूजा विचार

पुराण कलंक प्रकाश

मिलने का पता—

शिवदत्त शर्मा,

श्री भारतेन्दु पुस्तकालय, सम्भल

जि० मुरादाबाद